विज्ञान का समाजशास्त्रीय अध्ययन : विज्ञान–शिक्षा को समावेशी एवं प्रामाणिक बनाने के लिए कुछ विचार

– मोहम्मद जावेद हुसैन

यह पर्चा विज्ञान शिक्षा की विषयवस्तु व उसकी पैडागॉजी को उसके समाजशास्त्रीय अध्ययन के आलोक में गढ़ने का आग्रह करता है। लेखक का कहना है कि इससे ही विज्ञान की शिक्षा अधिक प्रमाणिक और समावेशी बन पायेगी। लेखक कहते हैं कि एन.सी.एफ. (NCF) 2005 व विज्ञान के स्थिति पत्र 2006 भी आग्रह करते हैं कि विज्ञान, प्रौद्योगिकी एवं समाज के बीच के जटिल सम्बन्धों की समझ विकसित की जानी चाहिए। परिवेश व अनुभव क्षेत्र में विविधता के मद्देनज़र, सभी पृष्ठभूमि के शिक्षार्थी अपनी–अपनी परिस्थिति के सन्दर्भ में वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त करने के तरीक़ों व उन तक पहुँचने की प्रक्रिया को सीख पायें। सभी के लिए (न सिर्फ विज्ञानोमुख माने जाने वालों के लिए) सीखना तभी सम्भव हो सकता जब विज्ञान की शिक्षा में ऐतिहासिक व दार्शनिक परिप्रेक्ष्यों के साथ ही समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य को भी शामिल करें। लेखक विज्ञान के ज्ञान, उसके रचे जाने की प्रक्रिया व उसमें शामिल हो पाने वालों की पृष्ठभूमि आदि के बारे में विस्तृत चर्चा करते हैं व विज्ञान के समावेशी शाश्वत, सार्वभौमिक व सर्वहितकारी न होने के बहुत–से उदाहरण व तर्क देते हैं। वे कहते हैं विज्ञान का वर्तमान वर्चस्व व उसके ज्ञान के इर्द–गिर्द श्रेष्ठता का जो आडम्बर है वह मिथ्या है। विज्ञान अन्य विषयों की तरह मानव रचित ज्ञान है उससे अधिक कुछ नहीं। लेखक विज्ञान शिक्षा को बदलने की राह में कुछ सरल सुझाव भी देते हैं और चेताते हैं कि हमें इस तरह की सोच पैदा करने से बचना है जो माने कि विज्ञान मात्र एक भेड़चाल है और उसमें हर तरह की बात सही हो सकती है। किन्तु विज्ञान शिक्षा में ऐतिहासिक, दार्शनिक परिप्रेक्ष्यों और उसके साथ–साथ समाजशास्त्रीय पहलुओं को मिलाने से विज्ञान शिक्षण के निहितार्थ गहरे किये जा सकते हैं।

सार

विज्ञान के समाजशास्त्रीय विमर्श ने अपने अनुभवसिद्ध अध्ययनों के आधार पर विज्ञान की व्यवहारिक प्रक्रियाओं से सम्बन्धित कई ऐसे परिप्रेक्ष्य दिये हैं, जो विज्ञान में व्याप्त

मूल्यों, विश्वासों एवं मानवीय रिश्तों की व्याख्या कर के विज्ञान सम्बन्धी रूढ़िवादी विचारों को चुनौती देते हैं। यह दृष्टि विज्ञान के बेबुनियाद सामाजिक रुतबे एवं स्थायित्व को धीरे–धीरे ख़त्म करने पर और विज्ञान के मानवीय एवं सामाजिक घटकों और सन्दर्भों पर ज़ोर देती है। विज्ञान के समाजशास्त्रीय अध्ययन से प्रकाश में आने वाले ऐसे परिप्रेक्ष्यों एवं जानकारियों को यदि स्कूली विज्ञान–कक्षाओं के चित्त में बिठा दिया जाये और इन्हें खुले तौर पर पढ़ाया जाये, तो एक लोकतान्त्रिक एवं मुक्तिकारी विज्ञान को बढ़ावा दिया जा सकता है। मेरा मानना है कि विज्ञान के समाजशास्त्र में मौजूद अन्तःदृष्टि विज्ञान–कक्षाओं की विषयवस्तु एवं शिक्षणशास्त्र, दोनों को प्रेरित करने की काफ़ी अच्छी संसाधन हो सकती है। कुछ गिनती के अपवादों को छोड़ कर विज्ञान का समाजशास्त्र एवं विज्ञान–शिक्षा एक–दूसरे से अलग–थलग पड़े रहे हैं। काफ़ी समय से, इन दोनों अध्ययन–क्षेत्रों के बीच सम्पर्क एवं संवाद की कमी रही है। इस आलेख में विज्ञान–शिक्षकों एवं शिक्षक–प्रशिक्षकों का ध्यान विज्ञान के समाजशास्त्र सम्बन्धी शोध एवं आलेखों की ओर आकृष्ट कराने की कोशिश की गयी है।

लेख के आरम्भ में हालिया वर्षों में विज्ञान–शिक्षा की पाठ्यचर्या में सुधार सम्बन्धी विमर्श का जायज़ा लेते हुए, "सब के लिए विज्ञान" के सन्दर्भ में विज्ञान–शिक्षा को समावेशी एवं प्रामाणिक बनाने की बात की गयी है। लेख के दूसरे हिस्से में विज्ञान के समाजशास्त्र में विद्यमान विद्वता का एक विहंगावलोकन पेश करते हुए, सर्वप्रथम विज्ञान के समाजशास्त्री रोबर्ट के. मर्टन (1942) के कार्य की एक आलोचनात्मक व्याख्या की गयी है, उसके बाद विज्ञान के समाजशास्त्र के दो अन्य महत्वपूर्ण कार्यों – वैज्ञानिक ज्ञान के समाजशास्त्र/स्ट्रांग प्रोग्राम एवं प्रयोगशाला–अध्ययन का संक्षिप्त विवरण पेश किया गया है। लेख के अन्तिम हिस्से में विज्ञान की शिक्षा को समावेशी एवं और अधिक प्रामाणिक बनाने के लिए विज्ञान के समाजशास्त्रीय अध्ययन के निहितार्थों पर चर्चा करते हुए इस कार्य में निहित सम्भावनाओं, समस्याओं एवं चुनौतियों पर चर्चा की गयी है।

1.1 पाठ्यचर्या सम्बन्धी सुधार एवं विज्ञान–शिक्षा

राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा–2005 के विज्ञान–शिक्षण सम्बन्धी फोकस समूह के प्रपत्र में इस बात को ले कर चिन्ता जतायी गयी है कि स्कूली स्तर पर विद्यार्थियों के कई समूह (लड़कियाँ, ग्रामीण इलाक़ों के बच्चे, आदिवासी बच्चे, गाँव एवं शहर के सामाजिक–आर्थिक तौर पर सुविधा–वंचित बच्चे और सीखने की कठिनाइयों और शारीरिक चुनौतियों का सामना कर रहे बच्चे) अपनी स्कूली शिक्षा पूरी करने के

बावजूद 'वैज्ञानिक स्तर पर निरक्षर' (scientifically illiterate) ही रह जाते हैं (राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा, 2006)। आगे इस बात पर ध्यान आकृष्ट कराया गया है कि "संविधान में वर्णित समता के लक्ष्य को प्राप्त करने से विज्ञान–शिक्षा वहाँ भी अभी बहुत दूर है। जहाँ कहीं यह अपने सर्वश्रेष्ठ रूप में भी मौजूद है, वहाँ भी यह पात्रता तो विकसित करती है, मगर खोजी प्रवृत्ति एवं रचनात्मकता को बढ़ावा नहीं दे पाती।" (पूर्वोक्त,2006 पृ. iv–v)। विज्ञान की शिक्षा पर लिखे गये फोकस समूह के प्रपत्र में विज्ञान की शिक्षा को शिक्षार्थी के भौतिक, जैविक एवं सामाजिक जीवन के सन्दर्भों से जोड़ने की आवश्यकता पर ज़ोर दिया गया है। इस दस्तावेज़ में अच्छी विज्ञान–शिक्षा को परिभाषित करते हुए छह क़िस्म के मापदण्डों का ज़िक्र किया गया है – *संज्ञानात्मक वैधता, विषयवस्तु की वैधता, प्रक्रिया की वैधता, ऐतिहासिक वैधता, परिवेशीय वैधता* और *नैतिक वैधता*। इन मापदण्डों को ध्यान से पढ़ने पर यह बात साफ़ होती है कि इस दस्तावेज़ में प्रचलित विज्ञान–शिक्षा की पाठ्यचर्या एवं शिक्षण–विधियों में कई बुनियादी परिवर्तन लाने की आवश्यकता पर ज़ोर दिया गया है और साथ ही विज्ञान की शिक्षा को प्रामाणिक (authentic) एवं समावेशी (inclusive) बनाने की बात की गयी है। शिक्षार्थियों को जहाँ उनकी आयु एवं संज्ञान–स्तर के मुताबिक़ *विज्ञान की विषयवस्तु* को (उसकी विषयक दृढ़ता में कमी किये बिना) समझाना है, वहीं उन्हें *वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त करने के तरीक़ों और उन तक पहुँचने की प्रक्रिया* को भी सिखाना है। इसके अलावा, शिक्षार्थियों में *वैज्ञानिक ज्ञान पर होने वाले सामाजिक कारकों के प्रभाव* की समझ पैदा करने के लिए वैज्ञानिक धारणाओं के विकास के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को उभारे जाने और विद्यार्थियों के स्थानीय एवं वैश्विक परिवेश को ध्यान में रखते हुए *विज्ञान, प्रौद्योगिकी एवं समाज के बीच के जटिल सम्बन्धों की समझ* विकसित करने की भी आवश्यकता है (राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा, 2006; पृ. 2–3)। फलतः इसमें विज्ञान–शिक्षा के उद्देश्यों, शिक्षण एवं मूल्यांकन विधियों और सेवापूर्व अध्यापक–शिक्षा कार्यक्रमों में परिवर्तन लाने के लिए नये सुझाव दिये गये हैं। कई वर्ष पहले, संयुक्त राज्य अमेरिका में राष्ट्रीय स्तर पर विज्ञान–शिक्षा एवं वैज्ञानिक साक्षरता के मापदण्डों को इंगित करने वाले दो महत्वपूर्ण दस्तावेज़ों ने भी इस बात पर ज़ोर दिया है कि स्कूली विज्ञान की पाठ्यचर्या एवं उसका शिक्षण न सिर्फ़ समावेशी हो, बल्कि प्रामाणिक भी हो (अमेरिकन एसोशिएशन फ़ॉर एडवांसमेंट ऑफ़ साइंस, 1993; नेशनल रिसर्च काउंसिल, 1996)।

1.2 'सब के लिए विज्ञान'

देश में गुणवत्तापूर्ण शिक्षा की बढ़ती हुई माँग और अब तक अपवर्जित विद्यार्थी समूहों के लिए विद्यालयी शिक्षा को और अधिक समावेशी और न्यायोचित बनाने की नीतिगत अनिवार्यता की वजह से यह ज़रूरी हो गया है कि हर तरह की पृष्ठभूमि और हर तरह की क्षमताओं वाले विद्यार्थियों को गुणवत्तापूर्ण विज्ञान–शिक्षा मुहैया करायी जाये। राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा–2005 में सुझाये गये सुधारों में भी यह बात अन्तर्निहित है कि विज्ञान–शिक्षा का उद्देश्य केवल 'भावी वैज्ञानिकों' को तैयार करना नहीं है, बल्कि वैज्ञानिक ज्ञान एवं सोचने के तरीक़ों को 'सभी प्रकार के विद्यार्थियों' तक पहुँचाना है। '*सब के लिए विज्ञान* ' ('Science for all') का यह उपागम (approach) इस बात पर ज़ोर देता है कि विज्ञान से भयभीत होने या इसके रौब में आने की बजाय, सभी तरह की पृष्ठभूमि के शिक्षार्थी और नागरिक विज्ञान एवं वैज्ञानिक कार्यविधि की खूबियों के साथ–साथ उसकी सीमाओं को भी समझें। इस उपागम को अपनाने का अर्थ है कि विज्ञान–शिक्षा में इस बात को स्वीकार किया जाये कि सभी प्रकार के शिक्षार्थी अपने आप में अपूर्व हैं और विज्ञान सीखने के लायक़ हैं; विज्ञान–शिक्षा को विज्ञान के शिक्षार्थियों के बीच पायी जाने वाली प्रचुर विविधता को ले कर सहनशील एवं सम्मानजनक बनना होगा; इसे सिर्फ़ 'विज्ञान–उन्मुख' शिक्षार्थियों की पहुँच तक ही सीमित नहीं रखना होगा, बल्कि सभी प्रकार की पृष्ठभूमि के विद्यार्थियों की पहुँच योग्य बनाना होगा, विशेष रूप से उन विद्यार्थी–समूहों के लिए, जो पारम्परिक रूप से विज्ञान की शिक्षा एवं विज्ञान सम्बन्धी पेशों से अभिवंचित रहे हैं। विज्ञान–शिक्षकों को हर तरह की पृष्ठभूमि के शिक्षार्थियों के लिए (चाहे वह किसी भी लिंग, जाति, धर्म, सामाजिक–आर्थिक स्थिति एवं पारिवारिक पृष्ठभूमि के हों) विज्ञान को एक दिलचस्प लगने वाला विषय और आजीविका का एक आशापूर्ण दिखने वाला विकल्प बनाना होगा।

भारतीय परिदृश्य में ऐसा करना और भी महत्वपूर्ण हो जाता है, क्योंकि भारत में ज़्यादातर स्कूल जाने वालों के लिए सैकेण्डरी स्तर की विज्ञान–शिक्षा ही उनकी पहली और अन्तिम विज्ञान–शिक्षा बन कर रह जाती है। स्कूल में विज्ञान का अध्ययन करने वाले सभी बच्चों का केवल एक छोटा–सा अल्पसंख्यक समूह ही विज्ञान आधारित पेशों में जायेगा या फिर फ़ुर्सत के क्षणों में विज्ञान–सम्बन्धी रुचि को अपनायेगा। बाक़ी के लिए स्कूली विज्ञान उनकी सामान्य शिक्षा का एक हिस्सा मात्र है। उस पर से यह कि भारत में विज्ञान को एक 'मर्दाना विषय' के रूप में देखा जाता है एवं सामाजिक विज्ञान को एक 'स्त्रियोचित' हैसियत दे कर निर्वासित कर दिया जाता है (कुमार, 2012; थॉमस, 1990)। भारतीय शिक्षा–प्रणाली में शिक्षार्थियों को विश्वविद्यालय पूर्वशिक्षा

(उच्च–माध्यमिक/सीनियर सैकेण्डरी स्तर) के स्तर पर अध्ययन किये जाने वाले विषयों का चुनाव माध्यमिक शिक्षा के बाद ही करना पड़ता है, जो कि उनकी भावी आजीविका की सम्भावनाओं को प्रभावित करता है। आमतौर पर यह देखा गया है कि शिक्षार्थी उच्च–माध्यमिक स्तर पर अध्ययन के लिए किये गये विषय का चुनाव माता–पिता की धारणाओं एवं शिक्षकों की (विद्यार्थियों से जुड़ी) अपेक्षाओं के आधार पर करते हैं। ज़्यादातर मामलों में पिता ही अपने बच्चों के विषय–सम्बन्धी चुनावों को तय करते हैं। भारतीय माता–पिता विज्ञान को ऐसा विषय मानते हैं जो 'कड़ी मेहनत', 'संकल्पनात्मक/अवधारणात्मक समझ' एवं 'कोचिंग–क्लास' के रूप में अतिरिक्त शैक्षणिक सहायताओं की माँग करता है; इसलिए इसे 'लड़कों के लिए ही उचित' समझा जाता है। इसके उलट, वह सामाजिक विज्ञान एवं कला विषयों को 'लड़कियों के लिए यथोचित' समझते हैं क्योंकि वह ऐसे विषयों को 'आसान', 'लापरवाही बर्दाश्त कर लेने वाला' एवं बहुत ज़्यादा रटने की माँग करने वाला (जिसमें लड़कियाँ अच्छी समझी जाती हैं) और 'कोचिंग के बिना भी सँभल जाने वाला' मानते हैं (गौतम, 2015)। माता–पिता की विभिन्न विषयों से सम्बन्धित ऐसी सोच की झलक शिक्षकों की विद्यार्थी सम्बन्धी सोच एवं अपेक्षाओं में भी मिलती है। बहुत सारे अभिभावकों की ही तरह, शिक्षक भी कुछ विद्यार्थियों को 'पढ़ाकू', 'मेहनती' एवं 'विज्ञान के अध्ययन में बहुत अच्छा करने की क्षमता से परिपूर्ण' मानते हैं; और दूसरे विद्यार्थियों को 'लापरवाह', 'कामचोर' और विज्ञान के अध्ययन के लिए 'अनुपयुक्त' और 'नालायक़' समझते हैं। अभिभावकों एवं शिक्षकों की शिक्षार्थियों की क़ाबिलियत से जुड़ी हुई ऐसी समस्यात्मक अपेक्षाएँ विद्यार्थियों के 'स्वयं की क्षमता' (self–efficacy) सम्बन्धी विश्वासों पर प्रतिकूल मनोवैज्ञानिक प्रभाव डालती हैं। नतीजे के तौर पर, लड़कों एवं विशेष सुविधासम्पन्न विद्यार्थियों की अपेक्षा लड़कियाँ और दूसरे अभिवंचित समुदायों के विद्यार्थियों की विज्ञान (एवं गणित) जैसे विषयों को आजीविका के विकल्प के रूप में चुन पाने की सम्भावना काफ़ी कम हो जाती है। इसलिए विज्ञान के शिक्षकों को अपने शिक्षण एवं अन्य गतिविधियों के द्वारा यह समावेशी सन्देश देने की आवश्यकता है कि विज्ञान केवल सुविधासम्पन्न, कुलीन एवं कुशाग्र बुद्धि वाले लोगों का काम नहीं है, बल्कि किसी भी लिंग, जाति, धर्म, रंग, नस्ल एवं पारिवारिक पृष्ठभूमि के लोग विज्ञान सम्बन्धी कार्य कर सकते हैं और वैज्ञानिक बन सकते हैं (हुसैन, 2017)।

ऐसा करने के लिए विज्ञान एवं विज्ञान सम्बन्धी कार्यों की एक सच्ची तस्वीर पेश करना भी बहुत ज़रूरी है, जो विज्ञान की रुढ़िवादी शिक्षण–विधियों के सहारे सम्भव नहीं है। विज्ञान की सही एवं प्रजातान्त्रिक तस्वीर पेश करने वाली कक्षाओं के निर्माण

के लिए स्कूली विज्ञान की विषयवस्तु एवं शिक्षण–विधियों की पुनःसंकल्पना ही काफ़ी नहीं है, बल्कि विज्ञान–शिक्षण में वैज्ञानिक ज्ञान एवं वैज्ञानिक सिद्धान्तों की रचना एवं प्रकृति पर खुले तौर पर विमर्श करने की भी आवश्यकता है। दुर्भाग्यवश, विज्ञान–शिक्षण में वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर स्पष्ट रूप से ध्यान देना एक ऐसा लक्ष्य है जिसे अक्सर स्थगित कर दिया जाता है और काफ़ी लम्बे समय के बाद यह एक व्यक्ति के अकादमिक करियर में आता तो है, लेकिन तब तक कई विद्यार्थी निराशा में विज्ञान का अध्ययन छोड़ चुके होते हैं। अब कई शिक्षक इसके महत्व को पहचानने लगे हैं (दुश्ल, 1990)। उदाहरण के तौर पर, माइकल मैथ्यूज़ (2015) इस बात को क़लमबन्द करते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विज्ञान का रूढ़िवादी, तकनीकी और ग़ैर–प्रासंगिक (de–contextualised) शिक्षण विद्यार्थियों के बीच विज्ञान के ज्ञान और प्रशंसा को बढ़ावा देने में बड़े पैमाने पर असफल रहा है। अमेरिका और ब्रिटेन में विद्यार्थियों और शिक्षकों द्वारा विज्ञान को छोड़े जाने के लिखित प्रमाणों पर टिप्पणी करते हुए, माइकल मैथ्यूज़ लिखते हैं, "विज्ञान को इस तरह त्यागने के पीछे कई जटिल आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं व्यवस्थागत कारण हैं जिन्हें दुरुस्त करना शिक्षकों के कार्यक्षेत्र से बाहर है। लेकिन विज्ञान के त्याग के पीछे कुछ शैक्षणिक कारण (पाठ्यचर्या और शिक्षण–विज्ञान सम्बन्धी) भी हैं जिन्हें शिक्षक और शिक्षा–सम्बन्धी अधिकारी संशोधित कर सकते हैं।" (पृ. 7)।

स्कूली विज्ञान की पड़ताल करने एवं नवीन उपागमों को प्रस्तावित करने के लिए विज्ञान–शिक्षा के शोधार्थी कई अलग–अलग अध्ययन–क्षेत्रों से मदद लेते हैं। इनमें से कुछ तो शिक्षा के प्रगतिशील/सुधारवादी (progressive), समालोचनात्मक (critical) एवं उत्तर–संरचनावादी (post–structural) आन्दोलनों की ओर रुख़ करते हैं, तो कुछ विज्ञान के समाजशास्त्रीय अध्ययनों/विज्ञान–सम्बन्धी अध्ययन (science studies) से सहायता लेते हैं। काफ़ी समय से विज्ञान–शिक्षा के शोधार्थी विज्ञान की बेहतर समझ बनाने एवं विज्ञान–शिक्षा के लिए विकल्पों को तलाशने के लिए विज्ञान के समाजशास्त्रीय अध्ययन (जिसमें विज्ञान के इतिहास, दर्शन एवं समाजशास्त्र शामिल हैं) का सहारा ले रहे हैं। उदाहरण के लिए, माइकल मैथ्यूज़ ने स्कूली विज्ञान–शिक्षण एवं शिक्षक–प्रशिक्षण कार्यक्रमों में 'विज्ञान का इतिहास एवं दर्शन' (Histroy and philosophy of Science) को शामिल करने की आवश्यकता पर ज़ोर दिया है। उनके अनुसार, "विज्ञान का इतिहास एवं दर्शन विज्ञानों को मानवीय बना सकता है और उन्हें निजी, नैतिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक सरोकारों से जोड़ सकता है...विज्ञान का इतिहास एवं दर्शन विज्ञान की कक्षाओं को और अधिक चुनौतीपूर्ण बना सकता है

और तर्कशक्ति एवं समालोचनात्मक सोच जैसी दक्षताओं को बढ़ावा दे सकता है...यह शिक्षकों को भी विज्ञान की एक अधिक समृद्ध एवं प्रामाणिक समझ विकसित करने में मदद करता है।" (पृ. 14)। हालाँकि माइकल मैथ्यूज़ समेत, विज्ञान–शिक्षा में सुधार के कई प्रवर्तक स्कूली विज्ञान एवं विज्ञान शिक्षक–प्रशिक्षण की पाठ्यचर्या में विज्ञान के ऐतिहासिक एवं दार्शनिक परिप्रेक्ष्यों को शामिल करने की वकालत तो करते हैं, लेकिन वह विज्ञान के समाजशास्त्रीय एवं अन्य (नृविज्ञान, मनोविज्ञान) परिप्रेक्ष्यों की आमतौर पर अनदेखी करते हैं।[1] शायद इसीलिए, कुछ गिनती के अपवादों को छोड़ कर विज्ञान का समाजशास्त्र एवं विज्ञान–शिक्षा एक–दूसरे से अलग–थलग पड़े रहे हैं। काफ़ी समय से, इन दोनों अध्ययन–क्षेत्रों के बीच सम्पर्क एवं संवाद की कमी समाजशास्त्र एवं विज्ञान–शिक्षा, दोनों की कमज़ोरी रही है (डेलामोंट, 1987)।

इस लेख में विज्ञान के समाजशास्त्र के कुछ अहम योगदानों, जिन्होंने पिछले तक़रीबन पचास सालों में एक इसे एक अलग पहचान दी है और विज्ञान–शिक्षा के लिए इसके निहितार्थों का विवरण देने की विनम्र कोशिश की गयी है। मेरा यह मानना है कि विज्ञान–शिक्षा में सुधार के लिए विज्ञान के इतिहास एवं दर्शन पर ध्यान देना ही काफ़ी नहीं है; बल्कि विज्ञान के समाजशास्त्रीय अध्ययन से प्रकाश में आने वाले परिप्रेक्ष्यों एवं जानकारियों को स्कूली–विज्ञान कक्षाओं के चित्त में बिठाने और उन्हें खुले तौर पर पढ़ाये जाने की आवश्यकता है। तभी एक लोकतान्त्रिक एवं मुक्तिकारी विज्ञान को बढ़ावा दिया जा सकता है।

2.1 विज्ञान का समाजशास्त्रीय अध्ययन : एक विहंगावलोकन

'विज्ञान क्या है', 'यह कैसे काम करता है' और 'वह क्या बात है जो विज्ञान को दुनिया की पड़ताल करने के दूसरे तरीक़ों से अलग करती है', सरीखे सवालों पर पहले विज्ञान के दार्शनिकों और बाद में विज्ञान के इतिहासकारों, समाजशास्त्रियों एवं मनोवैज्ञानिकों ने पुरज़ोर बहस की है। दरअसल, विज्ञान की प्रकृति पर तर्क–वितर्क का इतिहास तक़रीबन एक सौ साल पुराना है। विज्ञान के दर्शन सम्बन्धी विमर्श में कई वर्षों तक विज्ञान के दार्शनिकों के लिए 'विज्ञान की प्रकृति' (nature of science) एक केन्द्रीय प्रश्न बना रहा। शुरुआती दौर में किये गये कार्यों में एक नुस्ख़ानुमा 'वैज्ञानिक कार्यविधि' (scientific method) का वर्णन मिलता है। इन दार्शनिकों में से कईयों ने 'विज्ञान की प्रकृति' को इसकी 'अमूर्त कार्यप्रणाली' (abstract method) के रूप में पहचाना। एक विशिष्ट 'वैज्ञानिक कार्यविधि' का यह ख़याल दार्शनिकों को तब तक ग़ैर–समस्यात्मक लगता रहा, जब तक इस पर गहन विचार न किया गया।

बीसवीं सदी में लिखे गये अधिकांश शास्त्रसमूह में विज्ञान की तार्किक संरचना (logical structure) पर बहस की गयी। तार्किक निश्चयवादियों (logical positivists) का यह मानना था कि विज्ञान की तार्किक संरचना का अध्ययन होना चाहिए, मगर इसका ऐतिहासिक या मनोवैज्ञानिक अध्ययन ज़रूरी नहीं है। वैज्ञानिक उपकर्म की प्रकृति को मुकम्मल तौर से तार्किक बताने के लिए दार्शनिकों ने गणितीय–तर्क का सहारा लिया और (शायद जानबूझ कर) असल वैज्ञानिक–कार्य, विज्ञान के इतिहास एवं उसके सामाजिक ढाँचों को अपने चिन्तन के दायरे से अलग रखा। विज्ञान की प्रकृति सम्बन्धी ऐसे विमर्शों में यह समस्या थी कि इनमें विज्ञान के सामाजिक अन्तर्सम्बन्धों (वैज्ञानिकों, वैज्ञानिक उपकरणों, प्रयोगशालाओं, संस्थानों, निधिकरण प्रणाली (funding system), प्रशासन, आदि) का कोई ज़िक्र नहीं था। विज्ञान एवं समाज के अन्तर्सम्बन्धों को यह कह कर दरकिनार किया गया कि यह विज्ञान के वास्तविक तत्व नहीं हैं, बल्कि यह विज्ञान के 'सामाजिक–ढाँचे' एवं उसके 'सामाजिक सम्बन्धों' से जुड़ी बातें हैं। वैज्ञानिक उपकर्म की उपरोक्त समझ ने विज्ञान एवं समाज अन्तराफलक (Science–society interface) पर कोई प्रकाश नहीं डाला।

थॉमस कुह्न (1962) ने पहली बार 'विज्ञान की प्रकृति' सम्बन्धी दार्शनिक बहसों में विज्ञान के इतिहास को शामिल किया और तब से विज्ञान के इतिहास, समाजशास्त्र, नारीवादी–विमर्श (feminism), नृविज्ञान (anthropology), मनोविज्ञान एवं अन्य पूरक क्षेत्रों में ऐसे कई अध्ययन हुए हैं जिन्होंने वैज्ञानिक ज्ञान एवं वैज्ञानिक उपकर्म के 'ग़ैर–पक्षपाती', 'ग़ैर–ऐतिहासिक', 'शाश्वत' एवं 'सार्वभौमिक' दावों को समस्यात्मक बताया है। इन अन्तर्विषयक अध्ययनों ने वैज्ञानिक उपकर्म को एक सामाजिक रूप से संगठित उद्यम बताया है, जो कई स्तरों पर मानवीय–मूल्यों, विश्वासों एवं प्रतिबद्धताओं से आकार पाता है। आख़िरकार, यह बात साफ़ हुई कि ज्ञानमीमांसकों (epistemologists) द्वारा वहन की जाने वाली विज्ञान सम्बन्धी दृष्टि महज़ एक असम्भव ख़्वाब है, जो कि बातों को जितना स्पष्ट करती है उतना ही अस्पष्ट बनाती है। चूँकि पारम्परिक तौर पर विज्ञान को अन्य मानवीय क्रियाओं से अलग एवं ख़ास क़िस्म का उपकर्म माना जाता था, इसलिए यह काफ़ी लम्बे समय तक समाजशास्त्रीय अध्ययन एवं विश्लेषण का विषय नहीं बन पाया। बीसवीं सदी के मध्य में विज्ञान की प्रकृति को समझने के लिए दार्शनिक परिप्रेक्ष्यों के अलावा समाजशास्त्रीय एवं ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य भी वजूद में आने लगे। और जल्द ही 'विज्ञान का समाजशास्त्र' (sociology of science), 'विज्ञान के दर्शन' से बहुत तीव्रता से अन्तःक्रिया करने लगा।

विज्ञान का समाजशास्त्र यह व्याख्या करता है कि समाज में विज्ञान–सम्बन्धी कार्य किस तरह किया जाता है और समाज विज्ञान की रचना कैसे करता है। इसके विद्वान प्रयोगशाला/लेबोरेटरी–सम्बन्धी कार्यों को क़लमबन्द करते हैं। वह विज्ञान एवं सामाजिक ताक़तों के बीच की पारस्परिक क्रियाओं एवं प्रभावों (राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक) का प्रलेखीकरण (documentation) भी करते हैं। विज्ञान के बारे में लिखे गये समाजशास्त्रीय कार्यों को दो श्रेणियों में रखा जा सकता है : *सूक्ष्म–समाजशास्त्रीय आलेख* (microsociological) एवं *वृहत–समाजशास्त्रीय आलेख* (macrosociological) [कन्निंघम एवं हेल्म्स, 1995]। वृहत–समाजशास्त्रीय उपागम विज्ञान के वृहत सन्दर्भों से सरोकार रखता है और यह विज्ञान पर बाहरी सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक एवं आर्थिक कारकों के प्रभाव का अध्ययन करता है। मसलन, विज्ञान के बारे में लिखे गये वृहत–समाजशास्त्रीय लेखों में पश्चिमी समाज में विज्ञान एवं वैज्ञानिक सम्बन्धी सीमाओं, उनकी एक अलग सामाजिक हैसियत की उत्पत्ति एवं इन सीमाओं और हैसियत के बने रहने के कारणों पर चर्चा होती है। राजनीति, अर्थशास्त्र, सत्ता, स्वायत्तता एवं विज्ञान के सामाजिक रुतबे के बीच के सूक्ष्म सम्बन्धों को समझना विज्ञान के वृहत–समाजशास्त्रीय अध्ययनों का केन्द्र–बिन्दु रहा है। इसलिए, ऐसे आलेख आधुनिक विज्ञान पर हमारे समाज की राजनीतिक एवं आर्थिक निर्भरता की व्याख्या करते हैं और विज्ञान के राजनीतिक एजेंडा को समर्थन देने की घटनाओं का विश्लेषण भी करते हैं। अन्य विद्वानों ने विज्ञान एवं समाज की अन्तःक्रिया सरीखे वृहत–समाजशास्त्रीय मुद्दों पर लिखा है। रोबर्ट मर्टन का बहुचर्चित 'पुराना समाजशास्त्र' इसी श्रेणी में आता है।

विज्ञान के सूक्ष्म–समाजशास्त्रीय अध्ययनों के अन्तर्गत वैज्ञानिक कार्य से जुड़ी रोज़मर्रा की प्रक्रियाओं का अध्ययन किया जाता है। ऐसे अध्ययनों में विज्ञान की प्रयोगशाला में होने वाले कार्य एवं वैज्ञानिक समुदाय के बीच होने वाली अन्तःक्रियाओं की विशेषताओं का ब्यौरा मिलता है। इन सूक्ष्म–समाजशास्त्रीय विवरणों में वैज्ञानिक ज्ञान की रचना कैसे होती है, किस तरह सामाजिक एवं वैयक्तिक सरोकार और विश्वास कार्यस्थल पर लिये जाने वाले वैज्ञानिक फ़ैसलों तक पहुँच बना लेते हैं, आदि मुद्दों का विश्लेषण किया जाता है। इस क्षेत्र के विद्वान वैज्ञानिक निष्कर्षों की वैधता का परीक्षण करने के लिए *प्रयोगों की पुनरावृत्ति* (replication) करने की कोशिशों, *किस तरह के प्रमाण को प्रमाण माना जाता है, साथी–समीक्षा* (peer–review) एवं *वैज्ञानिक समुदाय के बीच के मुआमलात/सौदेबाज़ी* (negotiations) के बारे में लिखते हैं। इस

श्रेणी में विज्ञान के 'नये समाजशास्त्र' के तहत की गयी केस–स्टडीज़ एवं लेबोरेटरी अध्ययन आदि आते हैं।

लेकिन विज्ञान के समाजशास्त्री विज्ञान की अच्छाई या बुराई से जुड़े फ़ैसले नहीं करते हैं, न ही वह वैज्ञानिक–कार्यों को करने के तरीक़ों को बदलने या उन्हें सुधारने हेतु सुझाव देते हैं। वह सिर्फ़ वैज्ञानिक उपकर्म का विवरण एवं विश्लेषण करते हैं। अधिकांश मामलों में यह देखा गया है कि इस क्षेत्र में किये जाने वाले शोध आत्मसन्तुष्ट/आत्मलीन हैं।

2.2 रोबर्ट मर्टन एवं विज्ञान का 'पुराना' समाजशास्त्र

रोबर्ट के. मर्टन (1910–2003) काफ़ी लम्बे समय तक विज्ञान के समाजशास्त्र में एक मुख्य हस्ती की तरह रहे। इसलिए ज़्यादातर समाजशास्त्री उन्हें विज्ञान के समाजशास्त्र का प्रवर्तक मानते हैं। मर्टन अमेरिकी विद्वानों के उस समूह का अगुआ थे, जिन्होंने 1950 के दशक में विज्ञान पर, विशेषकर विज्ञान को संचालित करने वाली संस्थागत प्रक्रियाओं पर, कई एक अध्ययन किये। इस तरह के कामों को 'विज्ञान का संस्थागत समाजशास्त्र' (institutional sociology of science) कहा जाता है (हेस, 1997)। मर्टन का सबसे महत्वपूर्ण एवं मशहूर काम, 1942 में उनके द्वारा 'विज्ञान के मानदण्ड सम्बन्धी संरचना' (normative structure of science) की व्याख्या है। इस व्याख्या के अन्तर्गत मर्टन ने चार *'संस्थागत अनिवार्यताओं'* (institutional imperatives) या *मूल्य एवं क़ायदों* (norms) की निशानदेही की, जो उनके विचार में, विज्ञान की कार्यशीलता को सुनिश्चित करते हैं :

I. *सार्वभौमिकता (Universalism)* : इसके अनुसार, किसी व्यक्ति के द्वारा प्रतिपादित किये गये वैज्ञानिक दावों एवं नतीजों को उस व्यक्ति की निजी विशेषताओं (जैसे सामाजिक तबक़ा, नस्ल, धर्म या राष्ट्रीयता) को ध्यान में रखे बिना, केवल बौद्धिक मानदण्डों के आधार पर परखा जाता है। वैज्ञानिकों को मिलने वाला प्रतिफल/पारितोषिक (reward), केवल उनके कार्य (वैज्ञानिक नतीजों) के आधार पर मिलता है, न कि उनकी सामाजिक अवस्थिति के कारण।
II. *साम्यवाद (Communism)* : वैज्ञानिक नतीजे एवं खोजें, उनसे सम्बन्धित शोधकर्ताओं की निजी मिल्कियत नहीं होते, बल्कि वह पूरे वैज्ञानिक समुदाय एवं वृहत समाज की सम्पत्ति होते हैं। कोई भी व्यक्ति अपने कार्य में किसी भी वैज्ञानिक विचार का इस्तेमाल बे–रोकटोक कर सकता है। यह अनिवार्यता इस पूर्वधारणा पर आधारित है कि ज्ञान, वैज्ञानिक समुदाय के सामूहिक एवं संचयी

प्रयासों का नतीजा होता है। वैज्ञानिकों को तब तक अपने कार्यों के लिए पहचान नहीं मिल सकती, जब तक वह अपने कार्यों को प्रकाशित कर के दूसरे लोगों तक न पहुँचायें।

III. *अनासक्ति/निष्पक्षता (Disinterestedness)* : इसके अनुसार, वैज्ञानिक एक सार्वजनिक वैज्ञानिक उपकर्म के विकास के लिए काम करते हैं, न कि अपने निजी फ़ायदे के लिए। प्रत्येक शोधकर्ता ज्ञान को विकसित करने के मूल उद्देश्य के लिए काम करता है, यह अलग बात है कि परोक्ष रूप से उसे वैयक्तिक पहचान भी हासिल हो सकती/जाती है।

IV. *सुनियोजित संशयवाद (Organized skepticism)* : यह पूरे वैज्ञानिक समुदाय के विचारों को चुनौती देने एवं उन्हें जाँचने की प्रवृत्ति की ओर इशारा करता है। वैज्ञानिकों के पास वैज्ञानिक प्रणाली एवं वैज्ञानिक संस्था, दोनों से सम्बन्धित यह अधिकार होता है कि वह विज्ञान से जुड़े फ़ैसले लेने में केवल अनुभवजन्य/प्रयोगसिद्ध तथ्यों पर ही विचार करें। प्रत्येक शोधकर्ता को खुद अपनी एवं दूसरों की परिकल्पनाओं का आलोचनात्मक मूल्यांकन करने के लिए इच्छुक रहना चाहिए, लेकिन तब तक अपने फ़ैसलों को स्थगित रखना चाहिए जब तक कि आवश्यक प्रतिपुष्टि न हो जाये और "तथ्य सामने न आ जायें"।

उपरोक्त मूल्यों एवं क़ायदों का प्रतिपादन करते समय, मर्टन ने इस बात पर बार–बार ज़ोर दिया कि यह क़ायदे वैज्ञानिकों की वैयक्तिक अभिप्रेरणाओं के लिए उचित नहीं भी हों, मगर विज्ञान की संस्था विशेष के लिए वैध समझे जाने चाहिए। यानी, मर्टन यह बखूबी समझते थे कि वैज्ञानिक, सिर्फ़ वैज्ञानिक होने के कारण, अन्य पेशेवरों से बेहतर नैतिकता नहीं रखते। फिर भी, उनका यह मानना था कि वैज्ञानिक उपतन्त्र के लिए इन क़ायदों की व्यावहारिकता इस बात से साबित होती है कि विज्ञान के इन संस्थागत क़ायदों से विचलित हो जाने वालों लोगों के ख़िलाफ़ वैज्ञानिक समुदाय काफ़ी आलोचनात्मक प्रतिक्रिया देता है और उन पर कुछ प्रतिबन्ध भी लगाता है।

मर्टन की 'विज्ञान के मानदण्ड सम्बन्धी संरचना' की ऐसी व्याख्या की आलोचना यह कह कर की गयी है कि यह विज्ञान का निश्चयवादी (positivist) विवरण है; एक ऐसा आदर्शीकरण (idealization), जो अपने उद्देश्य में विवरणात्मक (descriptive) होने की बजाय ज़्यादा निर्देशात्मक (prescriptive) है। मर्टन पर यह इलज़ाम लगे कि उन्होंने विज्ञान के कुछ दार्शनिकों (जैसे कार्ल पॉपर की 'सीमांकन समस्या') की तरह वैज्ञानिक उपकर्म की क्रियाओं का वास्तविक चित्रण करने की बजाय, विज्ञान को ऐसे प्रस्तुत किया है, जैसा कि इसे होना चाहिए (न कि जैसा वह वाक़ई में है)। कई समाजशास्त्रियों

ने व्यक्तिवृत्तिक अध्ययनों (case studies) के माध्यम से लगातार यह दिखाने की कोशिश की है कि मर्टन के सिद्धान्त एवं वैज्ञानिकों के असली व्यवहार में विसंगतियाँ हैं (बार्नेस एवं डॉल्बी, 1970)।

इअन आई. मित्रोफ्फ़ (1974) ने अपोलो चन्द्र मिशन के दौरान चन्द्रमा की चट्टानों का अध्ययन करने वाले सबसे प्रतिष्ठित बयालीस वैज्ञानिकों के साथ साढ़े तीन साल तक किये गये अपने अध्ययन के आधार पर मर्टन के मानदण्डों/क़ायदों के ख़िलाफ़ *चार जवाबी–मानदण्ड/क़ायदे* (counter–norms) प्रस्तुत किये :

I. *विशिष्टतावाद (particularism)* : किसी वैज्ञानिक की सामाजिक विशेषताएँ वह कारक हैं जो इस बात को ख़ासतौर से प्रभावित करते हैं कि उस कार्य को किस तरह परखा जायेगा।
II. *व्यक्तिवाद (individualism)* : वैज्ञानिक नतीजों/खोजों पर अपना आधिपत्य जमाये रखने के लिए वैज्ञानिक प्रॉपर्टी राइट्स का इस्तेमाल करते हैं।
III. *आसक्ति/हितबद्धता (interestedness)* : वैज्ञानिक या शोधकर्ता अपने हितों के लिए काम करते हैं और उस सीमित वैज्ञानिक समूह के हितों के लिए काम करते हैं, जिस समूह का सदस्य वह खुद भी होते हैं।
IV. सुनियोजित स्वमताभिमान (organised dogmatism) : वैज्ञानिक स्वयं के शोध–सम्बन्धी नतीजों में अटूट विश्वास रखते हैं, जबकि दूसरों के शोध–परिणामों को शंका की दृष्टि से देखते हैं।

मित्रोफ्फ़ ने यह तर्क दिया कि यदि सार्वभौमिकता का आदर्श विज्ञान के अवैयक्तिक (impersonal/objective) चरित्र में निहित है, तो जवाबी–मानदण्ड/क़ायदे विज्ञान के व्यक्तिगत (personal/subjective) चरित्र में निहित हैं। मित्रोफ्फ़ ने यह तर्क भी दिया कि समाजशास्त्रीय महत्वाकांक्षा (sociological ambition) न केवल विज्ञान की एक विशेषता है, बल्कि यह विज्ञान के अस्तित्व और अन्तिम तर्कसंगतता के लिए आवश्यक भी प्रतीत होती है। अन्ततः विज्ञान के समाजशास्त्रियों ने यह निष्कर्ष निकाला कि मर्टन द्वारा प्रतिपादित 'क़ायदे/मानदण्ड' और मित्रोफ्फ़ द्वारा आईने की तरह दिखाये गये 'जवाबी–क़ायदे/मानदण्ड', दोनों ही प्रत्येक वैज्ञानिक के यथार्थपूर्ण व्यवहार को सही से दर्शा नहीं पाये। इसीलिए, मुल्के (1979) ने क़ायदे/मानदण्डों' एवं 'जवाबी–क़ायदे/मानदण्डों' के इस संग्रह को 'वैचारिक–आडम्बरपूर्ण मानदण्डों की एक लचीली फ़ेहरिस्त' बताया, जिसमें से वैज्ञानिक वक़्त और ज़रूरत के हिसाब से अपने कृत्यों को न्यायोचित ठहराने के लिए कुछ–न–कुछ लेते रहते हैं।

2.3 विज्ञान का 'नया' समाजशास्त्र : "वैज्ञानिक ज्ञान का समाजशास्त्र" (SSK) या "स्ट्रांग प्रोग्राम"

मर्टनवादी 'मानदण्डों' के अवशेष से कई 'नये' समाजशास्त्रीय कार्यक्रमों का जन्म हुआ; इनमें सबसे मशहूर था 'वैज्ञानिक ज्ञान के समाजशास्त्र का स्ट्रांग प्रोग्राम'[3]। 'स्ट्रांग प्रोग्राम' विज्ञान के मर्टनवादी समाजशास्त्र ('वीक' सोशियोलॉजी) के ख़िलाफ़ एक खुली प्रतिक्रिया थी। विज्ञान के "नये" समाजशास्त्रियों ने मर्टनवादी "पुराने" संस्थागत समाजशास्त्र का खुले तौर पर विरोध किया क्योंकि उनका मानना था कि वैज्ञानिक उपकर्म की केवल बाहरी विशेषताओं के अध्ययन तक सीमित रहने की वजह से यह उपागम विज्ञान रूपी 'काले–बक्से' को खोल पाने में असमर्थ है। इसीलिए, इन समाजशास्त्रियों ने, काफ़ी सोच–समझकर, अपने अध्ययन की विषयवस्तु को 'विज्ञान का समाजशास्त्र' कहने की बजाय 'वैज्ञानिक ज्ञान का समाजशास्त्र' (Sociology of Scientific Knowledge) कहा।

स्ट्रांग प्रोग्राम से जुड़े हुए समाजशास्त्री "सममिति के सिद्धान्त" (principle of symmetry) के प्रति वचनबद्ध थे[4]। इस सिद्धान्त के अनुसार, हर प्रकार के विश्वासों एवं व्यवहारों (चाहे वह विज्ञान–सम्बन्धी विश्वास हों या अन्य प्रकार के विश्वास; चाहे उसे हम 'सच' मानें या 'झूठ') को समझने के लिए समान क़िस्म की व्याख्या दी जानी चाहिए। इन समाजशास्त्रियों ने वैज्ञानिक ज्ञान के विकास की व्याख्या करने में सभी प्रकार के विज्ञान–सम्बन्धी विश्वासों (सत्य या असत्य) का अध्ययन समान तरीक़े से करने का प्रस्ताव रखा। इन समाजशास्त्रियों ने विज्ञान के 'आन्तरिक' एवं 'बाहरी' कारकों के बीच के फ़र्क़ को ख़त्म करते हुए समाजशास्त्रीय विश्लेषण का फोकस विज्ञान के बाहर कार्यान्वित सामाजिक–सांस्कृतिक कारकों के अध्ययन से हटा कर वैज्ञानिक

[3] सन 1966 ईस्वीं में एडिनबर्ग यूनिवर्सिटी के साइंस स्टडीज़ यूनिट में खगोलशास्त्री डेविड एज ने 'स्ट्रांग प्रोग्राम' की बुनियाद डाली, जल्द ही यह प्रोग्राम, विज्ञान के समाजशास्त्रीय अध्ययन के क्षेत्र में अग्रणी बन गया। तब से बैरी बार्नेस, डेविड ब्लूर, डॉनल्ड म्ककेंज़ी, स्टीवन शापिन एवं एंड्रयू पिकरिंग जैसे विद्वान इस यूनिट से जुड़े रहे हैं।

[4] विज्ञान के समाजशास्त्र का मर्टनवादी उपागम या 'वीक' प्रोग्राम, केवल 'असफल' या 'असत्य' समझे जाने वाले वैज्ञानिक सिद्धान्तों (जैसे फ्रेनोलोजी) के विश्लेषण के मामले में वैज्ञानिकों की सामाजिक विशेषताओं को बहुत कम प्रासंगिक मानता था। 'स्ट्रांग प्रोग्राम' ने यह प्रस्ताव रखा कि 'सत्य' या 'असत्य' दोनों क़िस्म के वैज्ञानिक सिद्धान्तों से एक ही तरह का व्यवहार होना चाहिए (चूँकि दोनों ही अपने निर्माण के दौरान वैज्ञानिकों के स्वार्थ एवं सांस्कृतिक सन्दर्भों जैसे सामाजिक कारकों एवं हालातों से प्रभावित होते हैं)।

ज्ञान के स्वयं के विश्लेषण की तरफ़ मोड़ दिया। इस प्रोग्राम में कुछ ख़ास वैज्ञानिक सिद्धान्तों को उनकी सामाजिक परिस्थितियों से जोड़ कर विश्लेषण करने की कोशिश भी की गयी। जो काफ़ी विवादास्पद बना और जिसने विज्ञान के कई पारम्परिक दार्शनिकों एवं इतिहासकारों को नाराज़ कर दिया, जिनमें स्वयं थॉमस कुह्न भी शामिल थे। इस तरह के विश्लेषण का उद्देश्य कुछ विज्ञान सम्बन्धी विश्वासों को, वैज्ञानिकों के राजनीतिक 'स्वार्थों' एवं उनकी सामाजिक अवस्थिति के अनुसार विवेचित करना था (गोडफ्रे–स्मिथ, 2003, पृष्ठ 126–127)। केस–स्टडीज़ पर आधारित 'वैज्ञानिक ज्ञान का समाजशास्त्रीय अध्ययन' के 'नये' उपागम ने विज्ञान के समाजशास्त्र एवं इतिहास, दोनों में किये जाने वाले ढेरों कार्यों को प्रेरित किया है। विज्ञान के 'नये' समाजशास्त्रीय विमर्श ने अपने अनुभवसिद्ध अध्ययनों के आधार पर विज्ञान की व्यवहारिक प्रक्रियाओं (कॉलिंस, 1981; लातूर एवं वूल्गर, 1986; पिंच, 1986) एवं वैज्ञानिक इबारतों (लातूर एवं वूल्गर, 1986) से सम्बन्धित कई पैनी दृष्टि वाले परिप्रेक्ष्य दिये हैं, जो विज्ञान के दार्शनिक एवं ऐतिहासिक विवरणों का महत्वपूर्ण हिस्सा बन सकते हैं। विज्ञान–शिक्षा की दृष्टि से 'वैज्ञानिक ज्ञान का समाजशास्त्रीय अध्ययन'(SSK) का सबसे महत्वपूर्ण पहलू यह है कि इन अध्ययनों ने सफलतापूर्वक दर्शाया कि वैज्ञानिक ज्ञान सामाजिक परिस्थितियों पर निर्भर (socially contingent) होता है।

स्ट्रांग प्रोग्राम से जुड़े हुए कुछ महत्वपूर्ण समाजशास्त्रियों –साइमन शाफ्फेर (1989), हैरी एम. कॉलिंस (1975), एस. वूल्गर (1976) एवं ट्रेवोर पिंच (1986)– के द्वारा किये गये अध्ययनों का संक्षिप्त विवरण आगे पेश किया जा रहा है।

(i) साइमन शाफ्फेर, न्यूटन का प्रिज्म एक्सपेरिमेंट और तथ्यों का सामाजिक मूर्तिकरण (reification)

आम नज़रिये के विपरीत, इतिहासकारों ने यह स्थापित किया है कि प्रकाश की संरचना पर आइजैक न्यूटन द्वारा किये गये प्रयोग, *experimentum crucis*, को कोई तात्कालिक सफलता नहीं मिली थी। दरअसल, *experimentum crucis* पर तक़रीबन पचास वर्षों तक विवाद रहा, जो मुख्यतः इसके मात्रात्मक परिणामों को दोहराने की कठिनाई के कारण रहा (मगर इस विवाद के और भी कई कारण थे)। विज्ञान के समाजशास्त्री साइमन शाफ्फेर (1989) ने इस प्रसंग को विज्ञान सम्बन्धी निर्णय लेने में समाजशास्त्रीय कारकों के निर्णायक प्रभाव के लिए एक और तर्क के तौर पर इस्तेमाल किया है। *Experimentum crucis* पर होने वाले विवादों का एक सरसरी तौर पर अध्ययन करने से पता चलता है कि न्यूटन का तर्क यह था : *प्रकाश की 'सरल' किरणें, उसके*

कथनों के अनुसार व्यवहार कर रही थीं, लेकिन इसको केवल 'अच्छे' प्रिज्मों का उपयोग करके पता लगाया जा सकता है, और 'अच्छे' प्रिज्म वह हैं जो 'सरल' किरणों को उत्पन्न करें। शाफ्फेर ने यह प्रदर्शित किया कि आइजैक न्यूटन ने रॉयल सोसाइटी के अध्यक्ष होने की अपनी राजनीतिक स्थिति का फ़ायदा उठाते हुए, अपने द्वारा प्रतिपादित ऑप्टिक्स के सिद्धान्तों से सम्बन्धित बहस को ख़त्म करा दिया। इस ऐतिहासिक घटना के विश्लेषण से शाफ्फेर ने यह निष्कर्ष निकाला कि अपने निर्माण के दौरान समस्यात्मक वैज्ञानिक तथ्य, एक ऐसी सामाजिक प्रक्रिया के द्वारा मूर्त रूप धारण कर सकते हैं, जो असली दावों की विवादपूर्णता पर पर्दा डाल देती है। यह मामला, कॉलिंस (1975) के शब्दों में, 'प्रयोगकर्ता के प्रतिगमन' (experimenter's regress) का एक स्पष्ट उदाहरण प्रस्तुत करता है।

(ii) हैरी एम. कॉलिंस, गुरुत्व तरंगें और प्रयोगों की प्रतिकृति (replication) की समस्याएँ :

'प्रयोगकर्ता का प्रतिगमन' प्रयोगात्मक परिणामों की ज्ञानमीमांसीय विश्वसनीयता (epistemic reliability) के लिए ख़तरा है, जो प्रयोगों की प्रतिकृति (replication of experiments) और वैज्ञानिक उपकरणों के व्यासमापन/अंशांकन (calibration) में मौजूद गम्भीर समस्याओं से उपजता है। यहाँ मुख्य समस्या यह है कि सही परिणाम केवल उस उपकरण का उपयोग करके प्राप्त किये जाते हैं जो ठीक से कार्य करता है, जबकि उपकरण सही तरीक़े से कार्य कर रहा तब समझा जाता है यदि वह सही परिणाम प्रदान कर रहा होता है। इसलिए, किसी वैज्ञानिक विवाद के परिणाम इस बात पर निर्भर नहीं करते हैं कि 'प्रकृति' का क्या 'कहना' है; न ही यह ज्ञानात्मक गुणों वाली किसी कार्यविधि विशेष के उपयोग पर निर्भर हैं। बल्कि यह इस बात पर निर्भर करते हैं कि प्रयोगकर्ता कौन है और वह सामाजिक प्रभुत्व की स्थिति में है या नहीं; यही बात उसे यह निर्धारित करने में सक्षम करती है कि क्या सही है और क्या ठीक से कार्य करता है। वैज्ञानिक प्रयोगों की प्रतिकृति (replication) की समस्या को उभारते हुए हैरी एम. कॉलिंस (1975) ने प्रदर्शित किया कि 1970 के दशक की शुरुआत में गुरुत्व तरंगों (gravity waves) के अस्तित्व से सम्बन्धित अन्तिम निर्णय को उस अनुसंधान में शामिल वैज्ञानिकों के समुदाय के बीच की सामाजिक मुआमलात/मोल–भाव (social negotiation) की प्रक्रिया द्वारा स्थापित किया गया था। कॉलिंस ने यह दिखाया कि गुरुत्व तरंगों या किसी अन्य घटना से सम्बन्धित प्रयोगों की प्रतिकृति कभी भी सटीक प्रतिकृति नहीं हो सकती है; इसलिए प्रयोगों को दुहरा मात्र लेना काफ़ी नहीं है। गुरुत्व तरंगों का 'अस्तित्व' सामाजिक कारकों और

मुआमलात/मोल–भाव के अधीन था; जिन्होंने यह निर्धारित किया कि कौन–से प्रतिस्पर्धी प्रयोग विश्वसनीय थे और कौन–से नहीं। गुरुत्व तरंग की घटना में विश्वास और अविश्वास रखने वाले, दोनों पक्षों को 'प्रयोगकर्ता के प्रतिगमन' का सामना करना पड़ा; क्योंकि प्रयोगों की प्रतिकृति को केवल तभी विश्वसनीय माना जा सकता है जब उपकरण और तरीक़ों में 'ठीक से' हेरफेर (manipulate) किया जाता है।

(iii) एस. वूल्गर, पल्सर एवं वैज्ञानिक 'खोजों' के वृत्तान्तों की समस्या

विज्ञान के समाजशास्त्रियों ने एकाकी वैज्ञानिक खोजों की अवधारणा को समस्यात्मक बताया है। एस. वूल्गर (1976) ने पल्सरों की खोज का बौद्धिक इतिहास क़लमबन्द करते हुए पल्सरों की खोज में शामिल वैज्ञानिकों के पश्चाद्दर्शी विवरणों (retrospective accounts) की तुलना की और अलग–अलग विवरणों में काफ़ी फ़र्क़ पाया। कुछ वैज्ञानिकों के ब्यौरे बहुत आधे–अधूरे थे; जिनमें ग़लत शुरुआतों, ग़लत रास्तों और आरोपणों का लोपन कर दिया गया था। कुछ विवरणों ने शुरू में घटनाओं की एक सीधी प्रगति प्रदान की, लेकिन जब वूल्गर ने बाद में उन पर सवाल किये तो यह विवरण स्थानान्तरित हुए और मिट गये। उन्होंने यह पाया कि पल्सरों की खोज सम्बन्धी इन विवरणों में जो गड़बड़ी थी, वह केवल याददाश्त की कमी की वजह से नहीं थी। वूल्गर के साक्षात्कार ने पल्सर के अध्ययन के दौरान अनिश्चितता की अवधि का दस्तावेज़ीकरण किया और सुझाव दिया कि अन्य, समवर्ती प्रयोगों ने प्रतिभागियों के अनुसंधान के निर्णयों को प्रभावित किया। एक "खोज" की व्याख्या केवल पूर्वव्यापी रूप से की जा सकती है : यह पिछली गतिविधि का एक पुनर्निर्माण है, जो कि एक प्रक्रिया है, समय का कोई विशेष हिस्सा नहीं। इसकी वैज्ञानिक स्थिति सामाजिक रूप से निर्धारित होती है।

(iv) *ट्रेवोर पिंच, सोलर–न्युट्रिनो का इतिहास एवं वैज्ञानिक मापदण्ड के रूप में मिथ्याकरण (falsifiability) की अपर्याप्तता :*

बहुत से समाजशास्त्रीय एवं दार्शनिक अध्ययनों (जैसे, इमरे लकातोस, 1970) में विज्ञान के दार्शनिक, कार्ल पॉपर (1963) द्वारा प्रतिपादित *मिथ्याकरण* (falsifiability) के मापदण्ड के निराकरण/खण्डन के बावजूद, आज भी विज्ञान एवं ग़ैर–विज्ञान या छद्म–विज्ञान के बीच फ़र्क़ करने के लिए इसे उत्साहपूर्वक सुझाया जाता है। हालाँकि, ट्रेवोर पिंच (1986) ने सोलर–न्यूट्रिनो के इतिहास पर किये गये अपने अध्ययन में पॉपरवादी मिथ्याकरण के तर्क को स्पष्ट रूप से निष्क्रिय पाया। वैज्ञानिक सिद्धान्त–परीक्षण में तार्किक निर्णय की भूमिका का अध्ययन करने के लिए पिंच ने

भौतिकी के तत्कालीन इतिहास से एक प्रकरण को अपने अध्ययन का विषय बनाया; यह सन 1967 में सूर्य से न्यूट्रिनो प्रवाह को मापने के लिए और इस तरह सूर्य में परमाणु संलयन के सिद्धान्तों का परीक्षण करने के लिए शुरू किया गया प्रायोगिक प्रयास था। पिंच ने पाया कि वैज्ञानिक समुदाय किसी सिद्धान्त का निर्णायक परीक्षण करने की बजाय उसके प्रतिपादक को ही इस परीक्षा से गुज़ारता है। वैज्ञानिक पूर्वकथन (prediction) और प्रयोगात्मक परिणाम या सिद्धान्त और मूलकथन (basic statement) के बीच के तार्किक सम्बन्ध के बारे में विभिन्न निर्णय लेते हैं।

2.4 लेबोरेटरी (प्रयोगशाला) अध्ययन

सत्तर के मध्य में विज्ञान के समाजशास्त्र में कई ऐसे अध्ययन होने लगे जो स्ट्रांग प्रोग्राम की कार्यविधि (जिसमें किसी वैज्ञानिक सिद्धान्त को उसके ऐतिहासिक एवं सामाजिक सन्दर्भ में रखते हुए, विश्लेषण किया जाता था) से हट कर, नृवंशविज्ञानी–कार्यप्रणाली (ethno–methodology) द्वारा उस प्रक्रिया का ही गहन अध्ययन करते थे, जिससे गुज़र कर कोई वैज्ञानिक सिद्धान्त वजूद में आता है। इसलिए, ऐसे सूक्ष्म–समाजशास्त्रीय एवं एथ्नोग्राफिक अध्ययनों का कार्यस्थल वैज्ञानिक प्रयोगशाला ही बना। इस प्रकार के अध्ययनों को कई बार 'विज्ञान का रचनावादी समाजशास्त्र' (constructivist sociology of science) का नाम भी दिया जाता है। यह ऊपर वर्णित SSK से कई मायनों में अलग हैं : यह वैज्ञानिकों की सामाजिक अन्तःक्रियाओं की छानबीन एक सहभागी–केन्द्रित परिप्रेक्ष्य (participant–centered perspective) से करते हैं; यह वैज्ञानिक–समुदाय या क्षेत्र का वृहत सर्वे न कर के, किसी प्रयोगशाला विशेष अथवा वैज्ञानिक कार्यस्थल पर चल रहे वैज्ञानिक कार्यों का गहरा वर्णन एवं विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं; एवं अपने विश्लेषणों में यह बौद्धिक एवं सामाजिक कारकों के बीच फ़र्क़ करने से बचते हैं (हेगेंदिज्क, 1990); जहाँ स्ट्रांग प्रोग्राम विज्ञान सम्बन्धी ऐतिहासिक मामलों का विश्लेषण करता था, वहीं लेबोरेटरी अध्ययन समकालीन विज्ञान के विश्लेषण पर केन्द्रित हैं।

इस सन्दर्भ में दो कार्य – ब्रूनो लातूर एवं स्टीफेन वूल्गर की *'लेबोरेटरी लाइफ़ : दि सोशल कंस्ट्रक्शन ऑफ़ साइंटिफिक फैक्ट्स (1986)'* तथा स्टीवन शापिन एवं साइमन शाफ्फेर की *'लेविआथन एण्ड दि एयर पम्प : होब्बस, बॉयल एण्ड दि एक्सपेरिमेंटल लाइफ़ (1985)'* काफ़ी चर्चित एवं प्रभावशाली रहे हैं। *लेबोरेटरी लाइफ़* नामी अपनी किताब में लातूर ने सान डिएगो में अवस्थित साल्क इंस्टिट्यूट की मॉलिक्यूलर बायोलॉजी (molecular biology) लेबोरेटरी में दो सालों तक किये गये अपने नृवैज्ञानिक

विवेचन (anthropological investigation) के वृत्तान्त को क़लमबन्द किया है। यह वह समय था जब साल्क इंस्टिट्यूट के वैज्ञानिकों के एक समूह ने मानव–वृद्धि के नियन्त्रण में शामिल एक हॉर्मोन (TRF) की रासायनिक संरचना की खोज की।[5] इसी प्रायोगिक–कार्य का विवरण, लातूर ने वूल्गर के साथ मिल कर *लेबोरेटरी लाइफ़* में लिपिबद्ध किया। उन्होंने यह तर्क दिया कि तथ्यों के निर्माण (construction of facts) के लिए, वैज्ञानिक उन अनिश्चितताओं को, जो हर एक वैज्ञानिक कार्य के प्रारम्भ में मौजूद होती हैं, बाहर निकाल देते हैं और ज्ञान के एक सन्दर्भ–विहीन (कम–contextualized) प्रतीत होने वाले हिस्से को ही उपयोग में लाते हैं। लातूर एवं वूल्गर के शब्दों में, 'किसी वैज्ञानिक तथ्य के निर्माण का नतीजा यह होता है कि यह ऐसा प्रतीत होता है, जैसे इसे किसी ने भी निर्मित नहीं किया हो; आडम्बरपूर्ण सामाजिक अनुनय का नतीजा यह होता है कि प्रतिभागी इस बात को मान लेते हैं कि उन्हें मनवाया नहीं गया है; मूर्तिकरण (reification) का नतीजा यह होता है कि लोग क़समें खा कर कह सकते हैं कि अनात्मीय/वस्तुगत सोच–विचार, 'सोच–प्रक्रिया' के मामूली घटक मात्र हैं; साख़/विश्वसनीयता में निवेश करने का नतीजा यह होता है कि प्रतिभागी यह दावा कर सकते हैं कि विज्ञान के ठोसपन से आर्थिक सोच या विश्वास किसी भी तरह सम्बन्धित नहीं हैं; रही बात परिस्थितियों की (जिनसे गुज़र कर वैज्ञानिक तथ्यों का निर्माण होता है), तो वह वैज्ञानिक ब्यौरों से साफ़ ग़ायब हो जाती हैं, क्योंकि यह समझा जाता है कि ऐसे मामलों को राजनीतिक विश्लेषण के लिए छोड़ देना चाहिए और हमें तथ्यों की सख़्त एवं ठोस दुनिया की सराहना करना चाहिए।' (लातूर एवं वूल्गर, 1979; पृ. 240 ; अनुवाद एवं सरलीकरण मेरा)।

लेबोरेटरी–अध्ययन यह दर्शाते हैं कि आम चित्रण एवं विश्वासों से उलट, विज्ञान सम्बन्धी अनुसंधान न तो किसी दृढ़ वैज्ञानिक कार्यपद्धति (जो निर्विवाद तथ्यों को उत्पन्न करता हो) के अनुसार किया जाता है, न ही उससे नियन्त्रित होता है। बल्कि, किसी भी अन्य विषय की तरह, वैज्ञानिक अनुसंधान में भी, विवाद उत्पन्न होते हैं, निजी एवं सामाजिक मूल्य महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं और मंजूरशुदा कार्यविधियाँ एवं ज्ञान बदलते रहते हैं। लेखन, अनुसंधान एवं ज्ञान का उत्पादन अन्तर्सम्बन्धित हैं; वैज्ञानिक तथ्यों का निर्माण एक लम्बी एवं आनुक्रमिक प्रक्रिया है जिसमें व्याप्त अव्यवस्था में से व्यवस्था/तरतीब का निर्माण होता है, अस्त–व्यस्त आँकड़ों को

[5] जिसके लिए रॉजर गिल्लेमिन (Roger Guillemin) को एंड्रयू षाल्ली एवं रोसालिन यालो (Andrew Schally & Rosalyn Yalow) के साथ 1977 ईस्वी का फिजियोलॉजी/मेडिसिन का नोबेल पुरस्कार भी मिला।

पृष्ठभूमि के कोलाहल से छाँट कर अलग किया जाता है। विज्ञान रूपी रंगपटल के पीछे की ऐसी व्याख्याएँ यह प्रकट करती हैं कि विज्ञान क़तई अद्‌भुत नहीं है। उदाहरण के लिए, एक प्रयोगशाला में होने वाली ज्ञान की खोज और एक क़ानूनी अदालत में होने वाले काम में कोई महत्वपूर्ण अन्तर नहीं है। वैज्ञानिक अनुसंधान में भी, सैद्धान्तिक रूप से, सब कुछ मोल–भाव के लायक़ (negotiable) है : 'एक माइक्रोग्लिया सेल क्या है और एक शिल्पकृति (artefact) क्या है, अच्छा वैज्ञानिक कौन है और उचित विधि क्या है, कोई एक माप पर्याप्त है या फिर कई प्रतिकृतियों (replications) की ज़रूरत है।' (नॉर्र–सेतिना, 1995, पृ. 152)।

3. विज्ञान का समाजशास्त्रीय अध्ययन : विज्ञान–शिक्षा सम्बन्धी सम्भावनाएँ एवं समस्याएँ

विज्ञान के अन्दर और बाहर, दोनों तरफ़ से, सामाजिक–सांस्कृतिक कारकों पर इसकी निर्भरता को तेज़ी–से समझा जा रहा है। विज्ञान के दार्शनिक एवं समाजशास्त्रीय अध्ययनों में बढ़ती हुई विद्वता ने विज्ञान के अन्दर से और विज्ञान की राजनीतिक अर्थव्यवस्था ने बाहर से, इस समझ को लगातार उजागर किया है। विज्ञान के समाजशास्त्र की पैनी दृष्टि विज्ञान में व्याप्त मूल्यों, विश्वासों एवं मानवीय रिश्तों की व्याख्या कर के विज्ञान–सम्बन्धी रूढ़िवादी विचारों को चुनौती देती है। यह दृष्टि विज्ञान के बेबुनियाद सामाजिक रुतबे एवं स्थायित्व को धीरे–धीरे ख़त्म करने और विज्ञान के मानवीय एवं सामाजिक घटकों और सन्दर्भों पर ज़ोर देती है। इन अन्तर्विषयक अध्ययनों ने वैज्ञानिक उपकर्म को एक सामाजिक रूप से संगठित उद्यम बताया है, जो कई स्तरों पर मानवीय–मूल्यों, विश्वासों एवं प्रतिबद्धताओं से आकार पाता है। विज्ञान की प्रकृति से सम्बन्धित इस अन्तर्विषयक विद्वता ने विज्ञान की एक वृहत एवं बेहतर समझ बनाने के लिए रास्ते साझा किये हैं।

अक्सर देखा गया है कि वैज्ञानिक उपकर्म की समाजशास्त्रजनित व्याख्याएँ विज्ञान की पाठ्यपुस्तकों एवं कक्षाओं और आम लोगों के बीच व्याप्त धारणाओं से उलट होती हैं। विज्ञान की सामाजिक–सांस्कृतिक निर्भरताओं की समझ, सिर्फ़ वैज्ञानिक उपकर्म का एक बेहतर विवरण ही पेश नहीं करती, बल्कि इसमें एक बेहतर क़िस्म के विज्ञान को बढ़ावा देने; वैज्ञानिक उपकर्म को रहस्य–मुक्त (demystify) करने; एवं विज्ञान को सामाजिक आवश्यकताओं के प्रति और सचेत करने की सम्भावनाएँ भी मौजूद हैं। विज्ञान–शिक्षकों को विज्ञान के समाजशास्त्र सम्बन्धी शोध एवं आलेखों पर ध्यान देने की ज़रूरत है; यह विज्ञान–कक्षाओं की विषयवस्तु एवं शिक्षणशास्त्र, दोनों को प्रेरित

करने के काफ़ी अच्छे संसाधन हो सकते हैं। वर्तमान में कई विज्ञान–शिक्षक स्कूलों में विज्ञान के एक उत्तर–अनुभववादी (post–empiricist) दर्शन को शामिल करने के लिए काम कर रहे हैं। विज्ञान–शिक्षक विज्ञान–शिक्षण के लिए ऐसे मॉडल की तलाश करते हैं जो दार्शनिक रूप से प्रामाणिक हों (गुरेंडर एवं टोबिन, 1991; मैथ्यूज, 1990; निएल्सेन एवं थॉम्सेन, 1990) लेकिन जो विज्ञान को सभी विद्यार्थियों के लिए सुलभ और प्रासांगिक बनाने के लक्ष्य को भी पूरा करता हो।

हालाँकि, वर्तमान समय में हमारे विद्यालयों में उपयोग में लायी जाने वाली पाठ्यपुस्तकों एवं शिक्षण में ऐसी आवाज़ों की मौजूदगी के बहुत कम संकेत मिलते हैं। वैज्ञानिक ज्ञान को आमतौर पर एक ग़ैर–समस्यात्मक, स्पष्ट, दुहराये जा सकने वाले तथ्यों (जो अवलोकनों पर आधारित, प्रयोगों द्वारा सम्पुष्ट होने वाली एक नियमबद्ध वैज्ञानिक कार्यविधि के अनुसरण से निकलते हैं) के तौर पर समझा और पढ़ाया जाता है। दुर्भाग्यवश, विज्ञान की सामाजिक विशेषताओं के बारे में विज्ञान के शिक्षार्थियों एवं प्रशिक्षु विज्ञान–शिक्षकों को नहीं बताया जाता। मेरा मानना है कि विज्ञान की वह कक्षाएँ, जहाँ विज्ञान की समाजशास्त्रीय समझ की अनदेखी की जाती है, न केवल विज्ञान की एक ग़लत तस्वीर पेश करती हैं, बल्कि शिक्षार्थियों के एक समूह विशेष को आगे विज्ञान की पढ़ायी करने से हतोत्साहित भी करती हैं। इसके विपरीत, यदि विज्ञान की कक्षाओं में विज्ञान के बारे में अधिक वास्तविक एवं सटीक दृष्टिकोण प्रस्तुत किये जायें, तो शिक्षार्थी विज्ञान की बेहतर ढंग से सराहना कर पायेंगे और वैज्ञानिक दावों और मुद्दों का आकलन करने के लिए बेहतर रूप से लैस हो सकेंगे। इसके अलावा, ऐसा करने से विज्ञान के अध्ययन को अधिक लोकतान्त्रिक बनाया जा सकता है। यदि हम प्रामाणिकता (authenticity) के लिए प्रयास करें, तो साथ–ही–साथ समावेशिता (inclusivity) को बढ़ावा दे सकते हैं। वर्तमान में अधिकांश विज्ञान–कक्षाओं से वास्तविक विज्ञान की विशेषताओं का शिक्षण नदारद है; यदि वास्तविक विज्ञान की विशेषताओं को विज्ञान–शिक्षकों द्वारा स्वीकार कर लिया जाये एवं विज्ञान की कक्षाओं में शामिल कर लिया जाये, तो हाशियाकृत एवं अभिवंचित समुदाय के शिक्षार्थियों के लिए विज्ञान को और अधिक आकर्षक बनाया जा सकता है। क्योंकि ऐसा करने से विज्ञान के मुख पर चढ़ा नीरस मुखौटा उतर जायेगा और विज्ञान का मानवीय चेहरा उजागर होगा।

कई शोधकर्ताओं ने (स्कूली) विज्ञान की कुछ ऐसी विशेषताओं की निशानदेही की है जो विज्ञान एवं विज्ञान आधारित पेशों में कम पहुँच रखने वाले सामाजिक समूहों

विशेषकर, महिलाओं एवं अल्पसंख्यकों को विज्ञान से दूर कर देती हैं (कार्टर, 1990; लेमके, 1990; मार्टिन, 1999) :

(i) विज्ञान को अक्सर एक निहायत तकनीकी विषय के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, जिसे महाविद्वान लोग कर सकते हैं और जो तमाम मानवीय तत्वों से मुक्त होता है;

(ii) स्कूलों की विज्ञान–प्रयोगशालाओं में होने वाला काम अक्सर व्यक्तिकेन्द्रित एवं प्रतियोगी प्रकृति का होता है, विद्यार्थी पूर्व–परिभाषित प्रक्रियाओं का अनुसरण करते हैं और ऐसे प्रयोग करते हैं जो पूर्वज्ञात तथ्यों को सिद्ध करते हैं;

(iii) स्कूली प्रोजेक्ट अक्सर विद्यार्थियों के जीवन के लिए अप्रासंगिक होते हैं; फिर भी विद्यार्थी बहुत कम मामलों में यह सवाल उठाते हैं कि वह किसी क्रियाकलाप को क्यों कर रहे हैं या इन क्रियाओं का मानव जाति के लिए क्या उपयोग है;

(iv) स्कूलों की विज्ञान–कक्षाओं एवं प्रयोगशालाओं में अपनायी जाने वाली प्रक्रियाएँ अक्सर ग़ैर–लचीली होती हैं, जिस कारण उलझाऊ आँकड़ों, रचनात्मकता एवं व्यक्तिगत खूबियों की अभिव्यक्ति के लिए कोई जगह नहीं बचती।

विज्ञान–शिक्षण के लिए, विज्ञान के समाजशास्त्रीय अध्ययनों के शैक्षणिक निहितार्थों पर बहुत गहन अध्ययन नहीं हुए हैं। समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्यों से अभिप्रेरित विज्ञान–शिक्षण से सम्बन्धित शैक्षणिक सामग्रियों एवं निर्देशों की बहुत ज़्यादा कमी है। विज्ञान के समाजशास्त्रीय अध्ययनों के विज्ञान–शिक्षण के लिए कुछ सम्भावित निहितार्थ इस प्रकार हो सकते हैं :

(i) वैज्ञानिक ज्ञान को उन सामाजिक परिस्थितियों पर निर्भर समझना चाहिए, जो इसके निर्माण को संचालित करती हैं। वैज्ञानिक ज्ञान का शिक्षण भी ऐसे ही होना चाहिए;

(ii) विज्ञान सम्बन्धी सामाजिक विमर्श की ओर ध्यान देने के साथ–साथ विज्ञान की प्रयोगसिद्ध प्रामाणिकता पर ज़ोर देना भी बहुत ज़रूरी है। विज्ञान–शिक्षकों को प्रयोगशाला–सम्बन्धी कृत्यों पर परिचर्चा करते समय विज्ञान के प्रयोगसिद्ध/अनुभवजन्य (empirical) एवं सामाजिक (social) दोनों पहलुओं के बीच सन्तुलन बनाना आवश्यक है;

(iii) सामाजिक–सांस्कृतिक मूल्य वैज्ञानिक ज्ञान की प्रक्रिया, विषयवस्तु एवं अनुप्रयोग को प्रभावित करते हैं। विज्ञान–शिक्षकों को वैज्ञानिक ज्ञान के उद्‌भव से जुड़े हुए सामाजिक एवं ऐतिहासिक सन्दर्भों को दर्शाने के लिए काफ़ी मेहनत करने की आवश्यकता है;

(iv) विज्ञान–शिक्षकों को (प्राकृतिक) विज्ञान एवं सामाजिक विज्ञान के बीच के ज्ञानमीमांसात्मक अलगावों (epistemological differences) को ख़त्म करने की लगातार कोशिश करनी चाहिए। अपने शिक्षण में यह कभी भी नहीं दर्शाना चाहिए कि सामाजिक मसलों के निवारण में वैज्ञानिक ज्ञान की एक ख़ास हैसियत है;

(v) विज्ञान–शिक्षकों को इस विचार का त्याग कर देना चाहिए कि स्कूलों या कॉलेजों में विज्ञान पढ़ लेने मात्र से लोग स्वतः ही बेहतर सार्वजनिक फ़ैसले लेने के लायक़ हो जायेंगे; विज्ञान की एक मुकम्मल एवं समृद्ध लोक–समझ के लिए यह ज़रूरी है कि विज्ञान की *प्रक्रियाओं* का अध्ययन किया जाये, न कि सिर्फ़ इसकी विषयवस्तु का।

विज्ञान के समाजशास्त्र का ज्ञान मात्र होना इसे स्कूली विज्ञान–शिक्षण में चरितार्थ करने के लिए काफ़ी नहीं है। सर्वप्रथम, शिक्षकों एवं शिक्षक–प्रशिक्षकों का इस बात पर विश्वास होना चाहिए कि विज्ञान के समाजशास्त्रीय पहलू स्कूल की विज्ञान–कक्षाओं या शिक्षक–प्रशिक्षण की कक्षाओं में शामिल किये जाने लायक़ ज्ञान हैं। तत्पश्चात, शिक्षकों को विज्ञान–शिक्षण के अपने उद्देश्यों को तय करना चाहिए। क्या वह विज्ञान को इसलिए पढ़ाते हैं कि शिक्षार्थियों की इसकी संकल्पनाएँ अच्छी तरह समझ आ जायें और वह तथ्यों की जानकारी में प्रवीण (content–mastery) हो जायें? या फिर वह विज्ञान के एक ज़्यादा प्रामाणिक एवं समावेशी शिक्षण के प्रति वचनबद्ध हैं; जिसका मक़सद सभी पृष्ठभूमि के विद्यार्थियों के अन्दर विज्ञान सम्बन्धी आत्मविश्वास पैदा करना एवं शिक्षार्थियों को उनकी रचनात्मक एवं आलोचनात्मक सोच के हुनर को ज़्यादा पैना करने के अवसर देना है, ताकि वह विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी पर तेज़ी–से निर्भर होते जा रहे समाज में ज़िम्मेदारी, प्रबुद्धता एवं सुविज्ञता के साथ फ़ैसले ले सकें? विज्ञान की समाजशास्त्रीय अन्तःदृष्टि को विज्ञान की कक्षाओं में समाविष्ट करना एक बहु–चरणीय प्रक्रिया है। विज्ञान के समाजशास्त्रीय विचारों से प्रभावित शिक्षण करने के लिए शिक्षकों को कक्षा–कक्ष की संरचना, कक्षा में स्वयं की भूमिका, पाठ्यपुस्तक–प्रभावी शिक्षण एवं विज्ञान–कक्षाओं में की जाने वाली विज्ञान सम्बन्धी गतिविधियों और प्रयोगशाला–कार्यों में बदलाव लाने की आवश्यकता है। क्रिस्टीन

कन्निंघम एवं जेनिफर हेल्म्स (1998) ने विज्ञान के समाजशास्त्रीय अध्ययनों से प्रभावित शिक्षण–विधियों पर विस्तृत चर्चा की है। निम्नलिखित पैराग्राफ में उनके द्वारा सुझाये गये कुछ मुख्य शिक्षणशास्त्रीय बिन्दुओं को चिन्हांकित किया जा रहा है :

(i) *कक्षा–कक्ष की संरचना, कक्षा में शिक्षक की भूमिका* : बहुत से विज्ञान–शिक्षक आज भी उसी तरह विज्ञान को पढ़ाते हैं, जैसा शिक्षण उन्होंने अपने शिक्षकों को करते देखा – शिक्षक–निर्देशित एवं पाठ्यपुस्तक–प्रभावी। यदि शिक्षार्थियों की वैज्ञानिक प्रक्रिया/अमल के बारे में अधिक सटीक समझ को बढ़ावा देना और सभी विद्यार्थियों में विज्ञान के विश्वास को प्रोत्साहित करना है तो विज्ञान–शिक्षकों को स्वयं (एवं विज्ञान की पाठ्यपुस्तकों) को विज्ञान सम्बन्धी प्राधिकार के रूप में पेश करने की आदत को त्यागना होगा। उन्हें अपने शिक्षार्थियों को यह स्पष्ट सन्देश देना होगा कि जब वह अपने स्वयं के प्रश्नों और समस्याओं को कक्षा में विकसित करते हैं, उनका परीक्षण करते हैं एवं उन पर समीक्षा और चर्चा करते हैं, तब उन्हें सिर्फ़ शिक्षक पर ही नहीं बल्कि खुद पर और एक–दूसरे पर (अपने साथियों पर) भी भरोसा करना चाहिए। शिक्षक को विद्यार्थियों द्वारा पूछे गये प्रश्नों के निश्चित उत्तर देने की लालसा से परहेज़ करने की ज़रूरत है। विद्यार्थियों को स्वयं पर और एक–दूसरे पर भरोसा करने के लिए प्रोत्साहित करने के लिए, वास्तविक विज्ञान की अस्त–व्यस्तता एवं अनिश्चितता का सामना करने और अपने निर्णय लेने के लिए आत्मविश्वास जगाने के लिए शिक्षकों को ज्ञान के स्त्रोत (जिसकी प्रतिक्रिया विद्यार्थियों को प्रयोगों के सही परिणाम को पाने एवं उनके नतीजों को सही मानने के लिए दिशा–निर्देश देती है) के रूप में खुद को व्यक्त करने से बचने की आवश्यकता है (कन्निंघम एवं हेल्म्स, 1998; पृ. 489–490)।

(ii) *पाठ्यपुस्तक–प्रभावी शिक्षण :* साथ ही, ज्ञान के विविध स्वीकार्य स्त्रोतों से शिक्षार्थियों को परिचित कराने के लिए उन्हें विज्ञान के जर्नल, पत्रिका, पूर्ववर्ती विद्यार्थियों द्वारा किये गये प्रोजेक्ट–कार्य की रिपोर्ट, एवं अन्य लिखित स्त्रोतों और इन्टरनेट से जानकारी इकट्ठा करने के लिए प्रोत्साहित कर सकते हैं। विज्ञान में साथी–समीक्षा/पियर–रिव्यु की अवधारणा को आत्मसात करवाने के लिए शिक्षक अपने विद्यार्थियों को विज्ञान सम्बन्धी मुद्दों पर मौजूद परस्पर विरोधी आलेखों या उनके सारांश को पढ़ने और उन पर समालोचनात्मक परिचर्चा करने के लिए भी तैयार कर सकते हैं। विद्यार्थियों को समाचार–पत्र, पत्रिका, रेडियो, टेलीविज़न या इन्टरनेट, आदि लोकप्रिय मीडिया से चुने गये किसी

आलेख या मुद्दे का विश्लेषण करने के लिए कह सकते हैं; ऐसा करते हुए शिक्षक विद्यार्थियों को सवालों की एक फ़ेहरिस्त दे सकते हैं जो उन्हें प्रमाणों की जाँच करने, अन्य सम्भावित व्याख्याएँ सुझाने में, सूचना के स्त्रोत की जाँच करने में और भेदभाव/पक्षपात के सम्भावित स्त्रोतों की पहचान करने में मदद करें (पूर्वोक्त; पृ. 490)।

(iii) *विज्ञान सम्बन्धी प्रयोगशाला–कार्य एवं गतिविधियाँ :* प्रयोग–कार्य के सम्बन्ध में भी शिक्षकों को फ़ौरन जवाब मुहैया करने की बजाय, शिक्षार्थियों को कई सम्भावित रास्ते सुझाने चाहिए। विद्यार्थियों को कक्षा के अन्य सदस्यों से इनपुट माँगने के लिए कहें या विद्यार्थियों से पूछें कि क्या वह इस बात से आश्वस्त हैं कि उनका डेटा उनके निष्कर्षों का समर्थन करता है। विज्ञान–शिक्षक को शिक्षार्थियों को प्रयोगों से सम्बन्धित निर्णयों –कोई प्रयोग कब समाप्त होना चाहिए; प्रयोग ठीक से किया गया है या नहीं; प्रयोग के निष्कर्ष क्या हैं और उनके आधार पर किये गये दावे व्यवहार्य हैं या नहीं– को लेने के अधिकतर मौक़े भी मुहैया करने चाहिए। विज्ञान की कक्षाओं में वैज्ञानिक समुदाय की परस्पर निर्भरता एवं विज्ञान की सूक्ष्म–समाजशास्त्रीय प्रक्रियाओं को उभारने के लिए शिक्षार्थियों को ऐसे प्रयोगशाला–कार्यों और गतिविधियों में व्यस्त रखने की ज़रूरत है, जो वास्तविक विज्ञान से काफ़ी मिलती–जुलती हों। शिक्षार्थियों को एक–दूसरे के साथ चर्चा करने के मौक़े देने होंगे और उन्हें छोटे–छोटे समूहों में कार्य करने के लिए प्रोत्साहित करना होगा। छोटे–छोटे समूहों में कार्यरत विद्यार्थी सूचना, डेटा एवं सलाह के लिए अपने समूह के दूसरे साथियों और अन्य समूहों पर भरोसा करेंगे। कभी ऐसा किया जा सकता है कि अलग–अलग विद्यार्थी–समूहों को एक ही टॉपिक पर एक ही जैसी कार्यविधि को अपना कर काम करने के लिए कहा जाये; कभी अलग–अलग समूहों को एक ही टॉपिक पर विभिन्न कार्यविधि अपनाने को कहा जाये; और अन्त में प्रत्येक समूह को अपने नतीजों को दूसरे समूहों के साथ साझा करने को कहा जाये। कभी ऐसा भी किया जा सकता है कि पूरी कक्षा को, उप–समूहों में बाँट कर, एक ही समस्या/टॉपिक पर काम करने को कहा जाये; मगर प्रत्येक उप–समूह उक्त समस्या के किसी एक हिस्से पर काम करे; समस्या को 'हल' करने के लिए शिक्षार्थियों को आपस में सहयोग करना होगा और उक्त समस्या की एक सम्पूर्ण तस्वीर को समझने के लिए अपने साथियों द्वारा किये गये कार्यों को समझना, उनका विवेचन करना एवं उन्हें समन्वयित करना पड़ेगा। ऐसा करने से

अलग–अलग विद्यार्थियों में अलग–अलग तरह की दक्षता का विकास होगा। इससे विद्यार्थियों के बीच नेटवर्किंग की समझ बनेगी; ऐसी नेटवर्किंग एक ही कक्षा के अन्दर एवं दो या अधिक कक्षाओं के बीच हो सकती है। समूह–कार्यों में इस बात को भी चिन्हांकित करने की आवश्यकता है कि वैज्ञानिक–कार्य में केवल दोस्ताना सहयोग एवं सूचनाओं को साझा करना ही शामिल नहीं है, बल्कि इसमें एक सहयोगात्मक–प्रतिस्पर्धा भी अन्तर्निहित है। इसलिए, समूह–कार्यों में प्रतिस्पर्धा का भाव पैदा करने के लिए, कई बार अलग–अलग समूहों को एक ही समस्या पर कार्य करने के लिए कहा जा सकता है, मगर पारितोषिक उस समूह को दिया जाये, जो समस्या का बेहतरीन समाधान दे पाये (पूर्वोक्त; पृ. 489–490)।

अन्त में यह खुलासा करना आवश्यक है कि जहाँ मैं विज्ञान के बारे में समाजशास्त्रीय दृष्टि की महत्ता को स्वीकार रहा हूँ, वहीं मैं इस बात को ले कर भी सचेत हूँ कि शिक्षार्थी विज्ञान के अध्ययन के पश्चात ऐसी सोच न विकसित कर लें कि विज्ञान एक भेड़चाल मात्र है। इसलिए विज्ञान की सामाजिक रूप से प्रामाणिक व्याख्या विज्ञान की शुरुआती शिक्षा में शायद उचित न भी हो। लेकिन इसे शिक्षक–प्रशिक्षण कार्यक्रमों में, विज्ञान के ऐतिहासिक एवं दार्शनिक परिप्रेक्ष्यों के साथ मिला दिये जाने से निश्चित रूप से लाभप्रद होगा। विज्ञान की समाजशास्त्रीय दृष्टि के शैक्षणिक निहितार्थों को और अधिक गहरायी से समझने और उन पर काम करने की ज़रूरत है। विज्ञान का समाजशास्त्रीय विश्लेषण कोई ऐसा दृढ़ नज़रिया नहीं देता जिससे विज्ञान की वस्तुनिष्ठ जाँच की जाये (बल्कि ऐसी किसी भी सम्भावना को ख़ारिज करना ही इस क्षेत्र का मुख्य योगदान है)। हमें एक तरह के बाहरी प्राधिकार के एवज़ में दूसरे क़िस्म के बाहरी प्राधिकार को जगह नहीं देनी चाहिए। यदि हम विज्ञान की आलोचना करना सीखने में विज्ञान में आस्था की जगह समाजशास्त्रीय विश्लेषणों में अटूट आस्था विकसित कर लें, तो यह एक दुखद विडम्बना होगी।

सन्दर्भ–सूची :

1. अमेरिकन एसोशिएशन फ़ॉर एडवांसमेंट ऑफ़ साइंस (1993)। *बेंचमार्क फ़ॉर साइंटिफिक लिट्रेसी*। वाशिंगटन डी. सी.।
2. एन.सी.ई.आर.टी. (2006)। *राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा–2005; समूह–पत्र 1.1. विज्ञान–शिक्षण*। नयी दिल्ली : नेशनल काउंसिल ऑफ़ एजुकेशनल रिसर्च एण्ड ट्रेनिंग।

3. एस. वूल्गार (1976)। "राइटिंग एन इंटेलेक्चुअल हिस्ट्री ऑफ़ साइंटिफिक डेवेलपमेन्ट : दि यूज़ ऑफ़ डिस्कवरी एकाउंट्स।" *सोशल स्टडीज़ ऑफ़ साइंस* 6 पृष्ठ संख्या 395–422।
4. कन्निंघम, सी. एम. एवं जे. वी. हेल्म्स (1998)। "सोशियोलॉजी ऑफ़ साइंस अज़ अ मीन्स टू अ मोर ऑथेंटिक, इंक्लूसिव साइंस एजुकेशन।" *जर्नल ऑफ़ रिसर्च इन साइंस टीचिंग* 35 (5) पृष्ठ संख्या 483–499।
5. कार्टर, सी. (1990)। *जेंडर एण्ड इक्विटी इश्यूज़ इन साइंस क्लासरूम्स : वैल्यूज़ एण्ड करिकुलर डिस्कोर्स*। पेपर प्रेजेंटेड एट दि एनुअल मीटिंग ऑफ़ दि मोर हिस्ट्री एण्ड फिलासफी ऑफ़ साइंस इन साइंस टीचिंग। प्रोसिडिंग्स ऑफ़ दि फर्स्ट इंटरनेशनल कॉनफ़रेन्स, फ्लोरिडा स्टेट यूनिवर्सिटी।
6. कुमार, एन. (2012)। "इंट्रोडक्शन : रिफ्लेक्शन एण्ड रियलिटीज़ अक्रॉस कल्चर।" *जेंडर एण्ड साइंस : स्टडीज़ अक्रॉस कल्चर्स*। एन. कुमार (एड)। नयी दिल्ली : फाउण्डेशन बुक्स। पृष्ठ संख्या xv-xxx।
7. कुह्न, टी. एस. (1962)। *दि स्ट्रक्चर ऑफ़ साइंटिफिक रिवोलुशन*। शिकागो : यूनिवर्सिटी ऑफ़ शिकागो प्रेस।
8. कॉलिंस, एच. एम. (1975)। "दि सेवेन सक्सेज़ : अ स्टडी इन दि सोशियोलॉजी ऑफ़ अ फिनोमेनन ऑर दि रेप्लीकेशन ऑफ़ एक्सपेरिमेंट्स इन फिजिक्स।" *सोशियोलॉजी* 9 पृष्ठ संख्या 205–224।
9. कॉलिंस, एच. एम. (1981)। "स्टेजेज़ इन दि एम्पिरिकल प्रोग्राम ऑफ़ रिलेटिविज़्म।" *सोशल स्टडीज़ ऑफ़ साइंस* 11 पृष्ठ संख्या 3–10।
10. गुरेंडर, डी. सी. एवं के. जी. टोबिन (1991)। "प्रॉमिस एण्ड प्रोस्पेक्ट" [विशेषांक]। *साइंस एजुकेशन* 75 पृष्ठ संख्या 1–8।
11. गोडफ्रे–स्मिथ, पी. (2003)। *एन इंट्रोडक्शन टू दि फिलासफी ऑफ़ साइंस : थ्योरी एण्ड रियलिटी*। शिकागो : दि यूनिवर्सिटी ऑफ़ शिकागो प्रेस।
12. गौतम, एम. (2015)। "जेंडर, सब्जेक्ट चॉइस एण्ड हायर एजुकेशन इन इण्डिया : एक्सप्लोरिंग 'चॉइसेज़' एण्ड 'कंस्ट्रेंट्स' ऑफ़ वीमेन स्टूडेंट्स।" *कंटेम्पररी एजुकेशन डायलॉग* 12 (1) पृष्ठ संख्या 31–58।
13. डेलामोंट, एस. (1979)। "थ्री ब्लाइंड स्पॉट्स? अ कमेंट ऑन दि सोशियोलॉजी ऑफ़ साइंस बाय अ पजल्ड आउटसाइडर।" *सोशल स्टडीज़ ऑफ़ साइंस* 17 पृष्ठ संख्या 163–170।

14.दुश्ल, आर. ए. (1990)। *रीस्ट्रक्चरिंग साइंस एजुकेशन : दि इम्पोर्टेंस ऑफ़ थ्योरीज़ एण्ड देयर डेवेलपमेन्ट*। न्यू यॉर्क : टीचर्स कॉलेज प्रेस।

15.निएल्सेन, एच. एवं पी. वी. थॉम्सेन (1990)। "हिस्ट्री एण्ड फिलासफी ऑफ़ साइंस इन फिजिक्स एजुकेशन।" *इंटरनेशनल जर्नल ऑफ़ साइंस एजुकेशन* 12 पृष्ठ संख्या 308–316।

16.नेशनल रिसर्च काउंसिल (1996)। *नेशनल साइंस एजुकेशन स्टैंडर्ड्स*। वाशिंगटन डी. सी. : नेशनल अकैडमी प्रेस।

17.नॉर्र–सेतिना, के. (1995)। "लेबोरेटरी स्टडीज़ : दि कल्चरल एप्रोच टू दि स्टडी ऑफ़ साइंस।" एस. जसनोफ्फ़ एवं सहयोगी (एड)। *हैण्डबुक ऑफ़ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी स्टडीज़*। थाउजेंड ओक्स : सेज। पृष्ठ संख्या 140–166।

18.पिंच, टी. (1986)। *कॉन्फ्रनटिंग नेचर*। डोर्ड्रेच्त : आर. रिएडेल।

19.पॉपर, के. (1963)। *कंजेक्चर्स एण्ड रेफुटेशन्स : दि ग्रोथ ऑफ़ साइंटिफिक नॉलेज*। लंदन : रूटलेज एण्ड केगन पॉल।

20.बार्नेस, बी. एवं आर. जी. ए. डॉल्बी (1970)। "दि साइंटिफिक एथोस : अ डेवियंट व्यूपॉइंट।" *आर्काइव्ज ऑफ़ यूरोपियन सोशियोलॉजी* 11 पृष्ठ संख्या 3–25।

21.मर्टन, आर. के. (1942)। "दि नोर्मेटिव स्ट्रक्चर ऑफ़ साइंस।" *दि सोशियोलॉजी ऑफ़ साइंस* 1973 में पुनः प्रकशित।

22.मार्टिन, जे. आर. (1991)। "व्हाट शुड साइंस एजुकेटर्स डू अबाउट दि जेंडर बायस इन साइंस?" *हिस्ट्री, फिलासफी एण्ड साइंस टीचिंग*। एम. मैथ्यूज़ (एड.)। टोरंटो : OISE प्रेस। पृष्ठ संख्या 151–165।

23.मित्रोफ्फ़, आई. (1974)। "नॉर्म्स एण्ड काउंटर–नॉर्म्स इन अ सेलेक्ट ग्रुप ऑफ़ दि अपोलो मून साइंटिस्ट्स : अ केस स्टडी ऑफ़ दि अम्बिवालेंस ऑफ़ साइंटिस्ट्स।" *अमेरिकन सोशियोलॉजिकल रिव्यु* 39 पृष्ठ संख्या 579–595।

24.मुल्के, एम. (1975)। "नॉर्म्स एण्ड आइडियोलॉजी इन साइंस।" *सोशल साइंस इंफार्मेशन* 15 पृष्ठ संख्या 637–656।

25.मुल्के, एम. (1991)। *सोशियोलॉजी ऑफ़ साइंस*। ब्लूमिंग्टन : इण्डिआना यूनिवर्सिटी प्रेस, में पुनः प्रकाशित।

26. मैथ्यूज़, एम. आर. (1990)। "हिस्ट्री, फिलासफी एण्ड साइंस टीचिंग : अ रप्रोचमेंट।" *स्टडीज़ इन साइंस एजुकेशन* 18 पृष्ठ संख्या 25–51।
27. मैथ्यूज़, एम. आर. (2015)। *साइंस टीचिंग : दि कॉन्ट्रिब्यूशन ऑफ़ हिस्ट्री एण्ड फिलासफी ऑफ़ साइंस*। न्यू यॉर्क : रूटलेज।
28. लकातोस, आई. (1970)। "फाल्सिफिकेशन एण्ड दि मैथडोलोजी ऑफ़ साइंटिफिक प्रोग्राम्स।" *क्रिटिसिज्म एण्ड दि ग्रोथ ऑफ़ नॉलेज*। आई. लकातोस एवं ए. मुसग्रवे (एड)। कैम्ब्रिज : कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस। पृष्ठ संख्या 91–96।
29. लातूर, बी. एवं एस. वूल्गार (1986)। *लेबोरेटरी लाइफ़ : दि कंस्ट्रक्शन ऑफ़ साइंटिफिक फैक्ट्स*। द्वितीय संस्करण। प्रिन्सटन : प्रिन्सटन यूनिवर्सिटी प्रेस।
30. लेमके, जे. एल. (1990)। *टॉकिंग साइंस*। नोर्वुड : अब्लेक्स।
31. शापिन, एस. एवं एस. शाफ्फेर (1985)। *लेविआथन एण्ड दि एयर पम्प : होब्बस, बॉयल एण्ड दि एक्सपेरिमेंटल लाइफ़*। प्रिन्सटन, न्यू जर्सी : प्रिन्सटन यूनिवर्सिटी प्रेस।
32. शाफ्फेर, एस. (1989)। "ग्लास वर्क्स : न्यूटन'स प्रिज्म्स एण्ड दि यूजेज़ ऑफ़ एक्सपरिमेंट।" *दि यूजेज़ ऑफ़ एक्सपरिमेंट : स्टडीज़ इन दि नेचुरल साइंसेज*। डी. गूडिंग, टी. पिंच एवं एस. शाफ्फेर (एड)। न्यू यॉर्क : कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस। पृष्ठ संख्याा 67–104।
33. हेगेंदिज्क, आर. (1990)। "स्ट्रक्चरेशन थ्योरी, कंस्ट्रक्टिविज्म एण्ड साइंस चेंज।" *थ्योरीज़ ऑफ़ साइंस इन सोसाइटी*। ब्लूमिंग्टन : इण्डिआना यूनिवर्सिटी प्रेस।
34. हुसैन, एम. जे. (2017)। *स्टीरियोटिपिकल इमेजेज़ ऑफ़ साइंटिस्ट्स हेल्ड बाई प्री–सर्विस टीचर्स : इम्प्लीकेशन्स फ़ॉर टीचर प्रिपरेशन*। पेपर प्रेसेंटेड एट दि नेशनल सेमीनार ऑन साइंस एजुकेशन, रीजनल इंस्टिट्यूट ऑफ़ एजुकेशन, अजमेर।
35. हेस, डी. जे. (1997)। *साइंस स्टडीज़ : एन एडवांस्ड इंट्रोडक्शन*। न्यू यॉर्क : न्यू यॉर्क यूनिवर्सिटी प्रेस।